हिन्द की चादर पर दाग

क्षितीश वेदालंकार

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान

हिन्द की चादर पर दाग

हिन्द की चादर पर दाग

आर्य रमेश चन्द्र बावा

लेखक
क्षितीश वेदालंकार
सम्पादक "आर्य जगत्"
नई दिल्ली

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान रायबरेली

प्रकाशक :

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान
आर्य समाज रायबरेली (उ० प्र०)
पिन कोड—229001
दूरभाष—2243

अतिरिक्त वितरक :

(1) डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान
विज्ञान परिषद् भवन, महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद–211002
दूरभाष–54413

(2) गोविन्दराम हासानन्द
4408 नई सड़क, दिल्ली–110006

प्रथम संस्करण : 1988

मूल्य : 10/-

मुद्रक :
सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
अलोपीबाग, इलाहाबाद

सम्पादक मण्डल

1. डॉ० प्रशस्य मित्र शास्त्री
2. डॉ० ज्वलन्त कुमार शास्त्री
3. डॉ० शान्ति देवबाला
4. डॉ० उषा ज्योतिष्मती
5. डॉ० विमलेश

प्रकाशकीय

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान को प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित करने में अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इसके लेखक "आर्य जगत्" के यशस्वी सम्पादक और आर्य साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् श्री क्षितीश वेदालंकार जी हैं। इनकी पंजाब की समस्या पर प्रकाशित अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक 'तूफान के दौर पर' है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी ख्याति प्राप्त कर चुका है। क्षितीश जी अपने उदात्त रचनाओं के लिये प्रसिद्ध हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में 'आर्य जगत्' में प्रकाशित १९८४ ई० के समस्त सम्पादकीयों का संकलन है। इनका मूल्य न केवल तात्कालीन है, अपितु ये हमारे साहित्य की स्थायी निधि भी हैं और इनके माध्यम से आचार्य क्षितीश जी ने साहित्य को नई प्रेरणायें भी दी हैं। क्षितीश साहित्य के इस प्रथम पुष्प के बाद भी हम उनके अन्य पुष्प भी प्रकाशित करेंगे, जो 'आर्य जगत्' के सम्पादकीयो के रूप में हमें मिले हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी पत्रकारिता जगत् और आर्य साहित्य के प्रेमी इन लेखों का अवश्य रसास्वादन करेंगे।

दीनानाथ सिंह
मन्त्री

सुशील कुमार अग्रवाल
अध्यक्ष एवं निदेशक

१३-१-१९८८ ई०

सम्पादकीय सूची

		पृष्ठ
१. जनता के मन में जहर मत घोलो	—जनवरी १, १९८४ ई०	९
२. मौसेरे भाई	—जनवरी १५, १९८४ ई०	१४
३. प्राथमिकतायें बदलनी होंगी	—जनवरी २२, १९८४ ई०	१८
४. मानवाधिकार आयोग	—जनवरी २९, १९८४ ई०	२३
५. मुस्लिम पर्सनल ला	—फरवरी ५, १९८४ ई०	२७
६. नया ऋषिबोध	—फरवरी २६, १९८४ ई०	३१
७. सिखों की 'बहादुरी'	—मार्च ११, १९८४ ई०	३७
८. यह दुविधा क्यों ?	—मार्च २५, १९८४ ई०	४२
९. पच्चीसवां अनुच्छेद और भारत सरकार	—अप्रैल ८, १९८४ ई०	४७
१०. अनतुले आदिक और अंतुले	—मई ६, १९८४ ई०	५२
११. लोंगोवाल की अग्नि-परीक्षा	—मई १३, १९८४ ई०	५७
१२. एक टेक रघुनाथ	—मई २०, १९८४ ई०	६२
१३. सावरकर की याद	—मई २७, १९८४ ई०	६७
१४. जब अखबार मुकाबिल हो तो तोप निकालो	—मई २७, १९८४ ई०	७१
१५. भिवंडी का (ग) हरा रंग	—जून ३, १९८४ ई०	७६
१६. आर्य समाज की भूमिका	—जून १०, १९८४ ई०	८०
१७. खेल खत्म खेल शुरू	—जून १७, १९८४ ई०	८५
१८. 'हिन्द की चादर' पर दाग	—जून २४, १९८४ ई०	९०
१९. अरदास : पश्चात्ताप : धन्यवाद	—जुलाई १, १९८४ ई०	९४
२०. कश्मीर में भी ऐतिहासिक भूमिका	—जुलाई १५, १९८४ ई०	९८

२१. कैसे हैं ये जगन्नाथ ? —जुलाई २२, १९८४ ई० १०३
२२. आओ सब मिलकर सेवा करें —जुलाई २९, १९८४ ई० १०८
२३. पहले भारतीय, पीछे कुछ और —अगस्त ५, १९८४ ई० ११२
२४. हम कहाँ से कहाँ पहुँचे ? —अगस्त १२, १९८४ ई० ११७
२५. अक्ल कब आयेगी ? —अगस्त १२, १९८४ ई० १२१
२६. राम की राम से भिड़न्त —सितम्बर २, १९८४ ई० १२५
२७. मनः स्थिति नहीं बदली —सितम्बर ९, १९८४ ई० १२९
२८. गोधन : राष्ट्रधन —सितम्बर १६, १९८४ ई० १३३
२९. करनाल चलो, मगर क्यों ? —सितम्बर २३, १९८४ ई० १३७
३०. ये कौन से जीवन मूल्य हैं ? —सितम्बर ३०, १९८४ ई० १४२
३१. अरदास में हम भी शामिल हैं —अक्टूबर ७, १९८४ ई० १४६
३२. उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा —अक्टूबर २१, १९८४ ई० १५१
३३. चुनावों की सरगरमी शुरू — नवम्बर ४, १९८४ ई० १५४
३४. हिम्मत है तो चुनौती का जवाब दो — नवम्बर १८, १९८४ ई० १५८
३५. महाकुंभ और समुद्र मन्थन —नवम्बर २५, १९८४ ई० १६३
३६. विष या अमृत —दिसम्बर २, १९८४ ई० १६७
३७. चुनावी रथ यात्रा —दिसम्बर ९, १९८४ ई० १७१
३८. वोट किसको दें ? —दिसम्बर १६, १९८४ ई० १७६
३९. अमर हुतात्मा का स्मरण —दिसम्बर २३, १९८४ ई० १८०

——

जनता के मन में जहर मत घोलो

पिछले दिनों अंग्रेजी की एक मासिक पत्रिका पर नजर पड़ी, जिसमें एक लेख इस शीर्षक से दिया गया था—'आर्य समाजिस्ट्स सोलली रिस्पांसिबल फार प्रेजेन्ट हिन्दू सिख टैन्शन इन पंजाब'—अर्थात् 'पंजाब के अन्दर हिन्दू और सिखों में वर्तमान तनाव के लिए जिम्मेवार केवल आर्य समाजी हैं।' उस पत्रिका का नाम है—'दी सिख रिव्यू।' भारत के बजाय शायद यह पत्रिका विदेशों में ज्यादा प्रचारित है, खास तौर से विदेश-स्थित सिखों में। पंजाब और दिल्ली की शिक्षा संस्थाओं के लिए वह सरकार द्वारा स्वीकृत भी है। उसके सम्पादक मण्डल में अनेक बड़े सिख नेताओं के नाम शामिल हैं। उक्त लेख ब्रिटेन के इण्डियन मर्चेन्ट ऐसोसिएशन के प्रधान डा० के० टी० ललवानी और नाइजीरिया के इण्डियन मर्चेन्ट ऐसोसिएशन के प्रधान श्री एस० आर० लाइंगर द्वारा लिखित बताया गया है और 'दी स्पोक्समैन' नामक पत्रिका से उद्धृत है।

लेख से पूर्व सम्पादकीय टिप्पणी में कहा गया है कि विदेश में रहने वाले भारतीयों में पंजाब के हिन्दुओं और सिखों में बढ़ते हुए तनाव को देखकर जो चिन्ता पैदा हो गई है उसी के कारण उक्त दोनों व्यापारियों ने पंजाब के अनेक स्थानों का दौरा करके इस तनाव के कारणों का पता लगाया है और विभिन्न वर्गों के लोगों से मिलकर जो निष्कर्ष उन्होंने निकाला है उसका विवरण इस लेख में है।

यह सम्पादकीय टिप्पणी पढ़ने के पश्चात् हम यह देखकर हैरान रह गये कि लेखकों ने विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों से मिलने की जो बात कही है, वह सर्वथा गलत है। ये लेखकद्वय श्री लोंगोवाल, श्री भिंडरावाले और श्री बलवन्त सिंह (पंजाब के भूतपूर्व वित्त मंत्री) से

मिले हैं और इनके एकांगी विचारों को ही उन्होंने अपने निष्पक्ष निष्कर्ष का नाम दिया है। पंजाब के किसी भी हिन्दू नेता से मिलने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।

लेख में यह आरोप लगाया गया है कि आज तक सिखों ने हिन्दुओं की किसी धार्मिक मांग का विरोध नहीं किया, परन्तु हिन्दुओं ने ही, खास तौर से आर्यसमाजियों ने, सिखों की मांगों का विरोध किया है। उनका कहना है कि चाहे अमृतसर को पवित्र शहर का दर्जा देने की मांग हो या स्वर्ण मन्दिर के नाम से अलग रेलगाड़ी चलाने की मांग हो, उसका विरोध किसी ईसाई या मुसलमान ने नहीं किया, केवल पंजाब और हरियाणा के आर्यसमाजियों ने किया। आर्यसमाजियों ने ही अपने अखबारों के माध्यम से सिखों की प्रत्येक मांग का विरोध करते हुए केन्द्रीय सरकार को भी प्रभावित किया और सिखों के साथ भेदभाव बरता जाने लगा। आर्यसमाजियों ने आजादी के पश्चात् सबसे पहले साम्प्रदायिक भेदभाव का बीज तब बोया जब उन्होंने हिन्दी को अपनी मातृभाषा कहना शुरू किया। उसी से धीरे-धीरे हिन्दू और सिखों में मतभेद की खाई चौड़ी होती चली गई और जब आर्यसमाजियों ने निरंकारियों के आन्दोलन का समर्थन शुरू कर दिया तो सिखों के प्रति यह विद्वेष की पराकाष्ठा हो गई। सिखों ने अपनी ओर से आज तक कभी खालिस्तान की मांग नहीं की, परन्तु आर्यसमाजी पत्रों ने ही सिखों के सम्बन्ध में पृथकतावादी होने का निरन्तर प्रचार किया, जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि सिख न चाहते हुए भी खालिस्तान की मांग करने पर मजबूर होते चले जा रहे हैं।

इन लेखकों का कहना है कि हमें पंजाब में एक भी ऐसा सिख नहीं मिला जो अकालियों की मांगों का समर्थन न करता हो। क्या इसी से यह बात साफ नहीं झलकती कि इन लेखकों ने कभी किसी गैर-सिख के विचार जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन्होंने यह भी कहा है कि जब किसी अखबार में सिखों के विरोध में कोई लेख

निकलता है तो उस लेख को लिखने वाला जरूर कोई न कोई ऐसा व्यक्ति होता है जो आर्य समाज की विचारधारा से प्रभावित हो, फिर चाहे वह अखबार किसी भी भाषा का क्यों न हो। लेखकों ने जिन सिख नेताओं से भेंट की उन सबने इस बात पर भी गम्भीर क्षोभ प्रकट किया कि पंजाब और हरियाणा की जनता का बहुत बड़ा वर्ग आर्य समाज की विचारधारा से प्रभावित है और इसीलिए हिन्दू और सिखों में दिन-प्रतिदिन तनाव बढ़ता जाता है।

एक अकाली नेता ने इन लेखकों से पूछा कि भाषावार प्रांत बनाने में पंजाब का नम्बर सबसे अन्त में क्यों आया ? क्या यह सीधा सिखों के साथ भेदभाव नहीं था ? या केवल इसलिए कि सिख पंजाबी सूबे की मांग के लिए शान्तिपूर्ण आंदोलन का आश्रय लेते रहे ? एक अन्य नेता ने कहा कि अमृतसर शहर की स्थापना-चतुःशती मनाने के लिये जब सिखों ने रेलवे बोर्ड से अनुमति लेकर अमृतसर शहर के संस्थापक गुरु रामदास का चित्र रेलवे स्टेशन पर प्रदर्शित किया तो इसके विरोध में हिन्दू भी अपने महापुरुषों के चित्र लेकर वहाँ पहुँच गये। यह हिन्दुओं की सिखों के प्रति धार्मिक ईर्ष्या का नहीं तो और किस बात का द्योतक है ? हिन्दुओं और आर्यसमाजियों के इसी व्यवहार से खिन्न होकर अब सिखों ने अपने आपको अलग 'नेशन' कहना प्रारम्भ कर दिया है।

सन्त लोंगोवाल ने सिखों की देशभक्ति का हवाला देते हुए आजादी की लड़ाई में शहीद हुए या फांसी पर चढ़ाये गये या नेताजी सुभाष-चन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज में शामिल सिखों की संख्या के आंकड़े भी दिये हैं और अन्त में यह शिकायत भी की है कि उन्हीं सिखों को अब सेना में केवल २ प्रतिशत स्थान दिया जा रहा है। सिखों के साथ इससे बढ़कर भेदभाव और क्या होगा ?

हम स्वीकार करते हैं कि सिखों में भी देशभक्तों की कमी नहीं है। परन्तु इतिहास में ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं जब उन्होंने इसके विरुद्ध

आचरण किया है। दूर क्यों जायें, अभी जो राष्ट्रमण्डल सम्मेलन हुआ उसके राष्ट्राध्यक्षों को सम्बोधित करते हुए अकालियों की ओर से जो परिपत्र तैयार किया गया था, स्वयं उस परिपत्र में ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिनमें सिखों ने अंग्रेजों का साथ दिया था। इस बात में अकाली नेता गर्व महसूस करते हैं और ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ से अपने विशेष संरक्षण की मांग कर रहे हैं। अभी तक केवल यही बात प्रचलित है कि अकालियों के आन्दोलन को विदेशों से प्रोत्साहन मिल रहा है और अकाली नेता हमेशा इसका खण्डन करते रहे हैं, पर उक्त परिपत्र के द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट रूप से ब्रिटेन जैसे साम्राज्य-वादी देश से संरक्षण की मांग करके अपनी देशभक्ति की कलई खोल दी है।

जहाँ तक आर्यसमाजियों द्वारा हिन्दी को मातृभाषा घोषित करने का प्रश्न है उसमें भी ज्यादती सिखों की ही थी। यदि वे पंजाबी भाषा के लिए देवनागरी और गुरुमुखी दोनों लिपियाँ स्वीकार कर लेते तो कोई कलह का प्रसंग ही पैदा नहीं होता, क्योंकि उससे पहले अवि-भाजित पंजाब में पंजाबी, गुरुमुखी, फारसी और देवनागरी तीनों लिपियों में लिखी जाती रही है। सिखों की इससे बड़ी संकीर्णता और क्या होगी कि वे अंग्रेजी और उर्दू का तो कभी बहिष्कार नहीं करते, परन्तु हिन्दी को कभी भूल कर भी पास नहीं फटकने देते। क्या राष्ट्र-भाषा का इस तरह अपमान भी देश भक्ति का सूचक है?

जहाँ तक निरंकारियों के समर्थन का प्रश्न है उस पर भी अकालियों को स्वयं अपने दिल पर हाथ रखकर ठंडे दिमाग से सोचना होगा। किसको जीने का हक है और किसको नहीं, क्या इसका फैसला सन्त भिंडरावाले करेंगे? जब से बब्बर खालसा ने अब तक मारे गये ३५ निरंकारी व्यक्तियों को हत्या की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली है, तब से तो यह और भी स्पष्ट हो गया है कि यह कोई धार्मिक जमात नहीं, बल्कि हत्यारों का एक गिरोह है। क्या आधुनिक युग में किसी तथा-

कथित सभ्य देश में इस प्रकार अपने आप को 'हत्यारों का गिरोह' घोषित करने वाले दल को बर्दाश्त किया जाना चाहिए ? क्या इन हत्याओं से वे यह सोचते हैं कि निरंकारी समाप्त हो जायेंगे ? क्या स्वयं सिख यह भूल गये कि कभी मुसलमान बादशाहों ने इसी प्रकार के अत्याचारों से सिख मत को समाप्त करना चाहा था, पर क्या इससे सिख मत समाप्त हो सका ? और फिर सन्त भिंडरावाले ने पिछले दिनों ५ हजार हिन्दुओं को कत्ल करने की जो धमकी दी थी वह कौन से सन्तपने की पहचान है ? गुरुद्वारों में हत्यारों को शरण देना और फिर गुरुद्वारों की पवित्रता का नारा लगाना—इन दोनों में कहाँ तक संगति है, यह स्वयं समझदार सिखों को सोचना ही होगा ।

जहाँ तक हिन्दू सिख एकता का प्रश्न है, वह आर्यसमाज को भी उतनी ही प्रिय है, जितनी किसी और को । परन्तु आर्य समाज कभी असत्य से, अत्याचार से, अराष्ट्रीयता से और साम्प्रदायिकता से समझौते नहीं कर सकता । इसीलिए जिनका अस्तित्व इन्हीं बातों पर आधारित है वे आत्मविश्लेषण करने के बजाय आर्य समाज को गाली देने लगते हैं, क्योंकि आर्य समाज उनकी गलतियों को बताता है । सही बात को कहने वाले इस दुनिया में दुर्लभ हैं, परन्तु उससे भी अधिक दुर्लभ हैं सही बात को सुनकर उस पर आचरण करने वाले । जिनको अन्धकार से प्रेम है, उनको उजाले से नफरत होगी ही और इसीलिए वे प्रकाश को अपना शत्रु समझते हैं । हमारा निवेदन है कि इस प्रकार असत्य विचारों के प्रचार से जनता के मन में जहर मत घोलो । आर्यसमाज को व्यर्थ में बदनाम मत करो । अपने मन का कलुष उन पर मत थोपो । दूसरों की आँख का तिनका देखने के बजाय अपनी आँख का शहतीर देखो ।

[आर्य जगत् जनवरी १, १९८४ ई०]

मौसेरे भाई

हिन्दू और सिखों के बीच एक ही रक्त, एक ही इतिहास, एक ही परम्परा और एक ही संस्कृति की दृष्टि से अटूट सम्बन्ध है। इस दृष्टि से जब यह कहा जाता है कि सिख विशाल हिन्दू समाज के ही अंग हैं, तो उसमें कोई अन्यथा बात नहीं होती। यह सोचा कि सिखों को हिन्दू समाज का अंग कह देने से उनकी पृथक पहचान समाप्त हो जायेगी, एक नितान्त भ्रामक कल्पना है। वर्तमान अकाली नेता इतिहास के उसी सत्य को झुठलाने में लगे हुए हैं। यह स्थिति इस हद तक पहुँच गई है कि जैसे प्राचीन नीतिकार ने कहा था—"नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम्"—कोई ऐसा मुनि नहीं जिसके वचन को प्रमाण माना जाय, ठीक वैसे ही कोई ऐसा अकाली नेता नहीं जिसके वचन को प्रमाण माना जाय।

सिख नेता बार-बार यह कहते हैं कि हम पृथकतावादी नहीं हैं, खालिस्तान की मांग से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और पिछले ही दिनों श्री हरचंद सिंह लोंगोवाल ने यह भी कहा है कि आनन्दपुर साहिब के प्रस्ताव में खालिस्तान की मांग नहीं है। परन्तु हाल में ही "खालिस्तान गणराज्य" के स्वयंभू नेता डा० जगजीत सिंह चौहान ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि आनन्दपुर साहिब के प्रस्ताव में खालिस्तान की मांग शामिल है और अकाल तख्त के अन्दर "सर्व खालसा" की बैठक बुलाकर उस मांग की पूर्ति की घोषणा कर दी जाय। डा० चौहान ने अकाली दल के नेता श्री लोंगोवाल और शिरोमणि गुरुद्वारा समिति के प्रधान जी० एस० तोहड़ा को पत्र भेजकर इसी वर्ष 26 जनवरी से खालिस्तान के रूप में समानान्तर सरकार के निर्माण का आग्रह किया है। इतना ही नहीं, उसी दिन डा० चौहान

अपने मन्त्रिमण्डल की घोषणा करेंगे; भारतीय संविधान और तिरंगे राष्ट्रीय ध्वज को जलायेंगे और भारतीय हाई कमिश्नर के निवास स्थान पर खालिस्तान के प्रतिनिधि के रूप में मार्च करेंगे। १८ दिसम्बर को लन्दन के गुरुद्वारा नानकसर में एक सिख संगत में इस प्रकार खालिस्तान की घोषणा कर देने का प्रस्ताव पास भी किया जा चुका है। उसी प्रस्ताव की प्रतिलिपि श्री लोंगोवाल, श्री तोहड़ा, और श्री भिंडरावाले को भेजी गई है।

इससे जहाँ खालिस्तान के आन्दोलन के पीछे विदेशों का हाथ होने का आभास होता है, वहाँ यह भी कि रोग की जड़, आमतौर पर जितनी समझी जाती है, उससे कहीं अधिक गहरी है।

पिछले दिनों बब्बर खालसा से सम्बद्ध सुखदेव सिंह की गिरफ्तारी से अनेक रहस्यों पर से पर्दा उठ गया है। उसने जहाँ बब्बर खालसा द्वारा ३५ निरंकारियों की हत्या स्वीकार की है, वहाँ यह भी स्वीकार किया है कि हमको ये हथियार गुरुनानक निवास से मिलते हैं, बाकायदा हत्या करने का प्रशिक्षण दिया जाता है और भिंडरावाले का आशीर्वाद भी उन्हें प्राप्त है। इस प्रकार उग्रवादी या बब्बर खालसा से सम्बद्ध लोगों के रहने, या प्रशिक्षण शिविर में भाग लेने, या वहाँ से हथियार प्राप्त करने के स्रोतों का केन्द्र स्वर्ण मन्दिर ही है। फिर चाहे लोंगोवाल या अन्य नेता कितना ही खण्डन करते रहें, लेकिन इन सब खुराफातों के दूर तक फैले तारों का सीधा कनैक्शन स्वर्ण मन्दिर के साथ है, इसमें किसी को सन्देह नहीं रहता। भले ही किसी को उग्रवादी, आतंकवादी, या उदारवादी के नाम से सम्बोधित किया जाय, परन्तु यह स्पष्ट हो चुका है कि अब स्वर्ण मन्दिर धार्मिक और श्रद्धालु व्यक्तियों का निवास बनने के बजाय साक्षात् आतंक का ही निवास बन चुका है। किसने कम हत्यायें कीं हैं या किसने कम खजाने लूटे हैं—महत्व इसका नही है, न ही एक को उदारवादी और दूसरे को उग्रवादी कहकर दुनिया को बहकाने की कोशिश की जा सकती है। मुख्य मुद्दा

यह है कि क्या लूट और हत्या जारी रखने वाले लोगों से किसी प्रकार के समझौते की या किसी भी प्रकार की कोई बातचीत की जा सकती है ?

अकाली नेताओं ने अपनी विशुद्ध साम्प्रदायिक माँगों को राजनैतिक और क्षेत्रीय माँगों के साथ जोड़ दिया है । तथाकथित धार्मिक माँगे भी राजनैतिक मंच से उठाई जा रही हैं और अपनी माँगों को समस्त पंजाब की जनता का माँग कहा जा रहा है । क्या सिख और और पंजाब पर्यायवाची है ? सिख और पंजाब तो पर्यायवाची है ही नहीं; हम उससे आगे बढ़कर यह कहना चाहते हैं कि सिख और अकाली भी तो पर्यायवाची नहीं है । इसलिए अकालियों की ओर से की जा रही माँगों को न तो समस्त सिखों की माँग कहा जा सकता है और न ही समस्त पंजाबियों की माँग कहा जा सकता है । सच बात तो यह है कि जिस दिन अकाली दल और मुस्लिम लीग इन दोनों दलों को राजनैतिक मान्यता प्रदान कर चुनाव लड़ने की अनुमति दी गई थी, वह देश के दुर्भाग्य का दिन था ।

अभी पिछले दिनों इस गलती की ओर लोकदल के नेता चौधरी चरण सिंह ने भी ध्यान दिलाया है और उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है किसी सम्प्रदाय-विशेष के ऊपर आधारित किसी भी राजनैतिक दल को न तो मान्यता मिलनी चाहिए और न ही उसे चुनाव लड़ने का अधिकार होना चाहिए । देश को साम्प्रदायिकता के जहर से मुक्त रखने का यही एक कारगर उपाय है । अब भी अगर इन दोनों दलों को राजनैतिक दल की मान्यता से वंचित कर दिया जाय तो सम्प्रदाय निरपेक्ष लोकतन्त्रीय प्रणाली की दृष्टि से वह सर्वथा उचित होगा ? परन्तु क्या केन्द्रीय सरकार यह हिम्मत करेगी ?

पहले अकाली दल ने जामा मस्जिद के इमाम अब्दुल्ला बुखारी को बुलाकर उनके साथ एक सम्मिलित मोर्चा बनाना चाहा था । परन्तु जब अब्दुल्ला बुखारी के सहयोग से जनूनी बुखार नहीं उतरा, तब

एक दूसरे अब्दुल्ला, कश्मीर के मुख्य मंत्री अब्दुल्ला फारुख, के साथ मिलने की फरागदिली दिखाई जा रही है। एक ओर फारुख अब्दुल्ला पुनर्वास विधयक बनाकर विभाजन के बाद जो मुसलमान पाकिस्तान चले गये थे, उन्हें वापस बुलाकर नागरिकता का अधिकार प्रदान कर रहे हैं और दूसरी ओर दो तीन दशकों से जो हिन्दू जम्मू में रहते चले आ रहे हैं इनकी नागरिकता छीनी जा रही है। पाकिस्तान बनने के बाद जो हिन्दू शरणार्थी आये थे उनका न तो पुनर्वास हुआ और न ही उन्हें नागरिकता प्रदान की गई। वे अभी तक वहाँ दूसरे दर्जे के लोग समझे जा रहे हैं। इतना ही नहीं, आतंकवादी सिखों के प्रशिक्षण के लिए जितने शिविर लगते हैं उनमें से अधिकांश जम्मू-काश्मीर के क्षेत्र में ही लगते हैं। कश्मीर के रास्ते से ही उन आतंकवादियों के पास पाकिस्तान से हथियार आते हैं और वही हथियार दिल्ली और पंजाब में लूटमार, डकैती और हत्याओं के काम आते हैं। जम्मू-काश्मीर में इंका के कार्यकर्ताओं पर जिस तरह ज्यादती की गई है, उसका समर्थन अकाली नेता करें, यह आश्चर्य की बात है। उधर फारुख अब्दुल्ला इन अकालियों की माँगों का समर्थन करते हैं और इधर ये अकाली नेता फारुख अब्दुल्ला का समर्थन करते हैं। इससे स्पष्ट यह ध्वनित होता है कि ये दोनों समान उद्देश्य से प्रेरित मौसेरे भाई हैं, इनकी नस कहीं न कहीं आपस में मिलती है।

इसी प्रकार साम्प्रदायिकता के उन्माद से ग्रस्त और राष्ट्र के विघटन के लिए उत्सुक अन्य अलगाववादी अराष्ट्रीय तत्व इस समय आपस में मिलकर जैसे घी-शक्कर हो गये हैं, उससे उनके मौसेरे भाई होने की ही पुष्टि होती है। जब तक भारत सरकार दृढ़ता-पूर्वक इन "मौसेरे भाइयों" का इलाज नहीं करती, तब तक देश का भविष्य सुरक्षित नहीं है।

[जनवरी १५, १९८४ ई०]

प्राथमिकतायें बदलनी होंगी

गणराज्य दिवस ज्यों-ज्यों निकट आता जाता है, त्यों-त्यों सारे देश में एक महोत्सव का सा माहौल दिखाई देने लगता है। उत्सवों की भी जीवन में उपयोगिता होती है। परन्तु उत्सव के दिन की आह्लाददायक दिनचर्या से वर्ष के शेष सामान्य दिनों की तुलना नहीं की जा सकती। ईद के अवसर पर जैसे नये कपड़े पहनकर निकला जाता है वैसे नये कपड़े अन्य दिनों में दिखाई नहीं देते।

गणराज्य दिवस जैसा महोत्सव जहाँ समाचार पत्रों के कालमों में देश की प्रगति से सम्बन्धित लेखों और राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्र को सम्बोधन का सम्भार लेकर आता है, उससे देश की सही तस्वीर को आंकना क्या उचित होगा ? मकर संकान्ति के पर्व पर समस्त राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए प्रधानमन्ती श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अपने शासन के गत चार वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का उल्लेख किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनाज, उर्वरक, बिजली और तेल के उत्पादन में देश ने नए कीर्तिमान स्थापित किये हैं। पर जो आँकड़े सरकारी तौर पर बताये गये हैं, क्या वे उसी रूप में विश्वसनीय हैं ? आँकड़ों के खेल में सरकार के मन्त्रालय कितने माहिर हैं, यह बात जगजाहिर है।

ऐसे महोत्सव के अवसर पर यदि हम आत्मविश्लेषण न करें, तो और कब करेंगे ? मुख्य मुद्दा यह है कि देश की प्रगति के समस्त आँकड़ों के बावजूद देश की आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति में कितना सुधार हुआ है, इसका सही विश्लेषण किया जाना चाहिए। उस दृष्टि से, हमें परराष्ट्र और स्वराष्ट्र के मंचों पर सबसे बड़ी जिस उपलब्धि के तोहफे पेश किये गये, उनमें से पहला है एशियाड, दूसरा है निर्गुट

राष्ट्र सम्मेलन और तीसरा है राष्ट्र मंडल सम्मेलन। भारत भूमि पर हुए इन अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों की मेजबानी का सौभाग्य हमें मिला, पर क्या उससे हमने अपनी विदेश नीति में कोई बहुत बड़ा तीर मार लिया ? हम स्वयं अपने आपको तीस मार खाँ समझते रहे, यह अलग बात है, परन्तु विश्वशक्तियों की तुलना में हम कहाँ हैं ?

यह सही है कि क्षेत्रीय महाशक्ति के रूप में भारत को कुछ-कुछ मान्यता मिली है, परन्तु इससे हमारे पड़ोसी देश हमारे रोब में आ गये हों, ऐसा तो नहीं लगता। हमें लोग ताकतवर तस्लीम तो करते हैं, पर हमारी तौहीन करने में भी कसर नहीं छोड़ते। नेपाल, बंगलादेश, श्रीलंका, पाकिस्तान और चीन इन सभी से हमारे वैसे सम्बन्ध नहीं है जैसे किसी ताकतवर देश के होने चाहिए। ठीक है कि पड़ोसियों से मित्रता मुश्किल से होती है, पर जिस प्रकार की अवहेलना का शिकार हमको होना पड़ रहा है, वह हमारी शान के लायक नहीं है। नेपाल और बंगलादेश भारत का शोर मचाकर उसकी आड़ में अपने राजनैतिक स्वार्थ साधने में लगे हुए हैं। नेपाल में भारतीयों के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की जा रही है और नेपाल-नरेश अमेरिका जाकर नेपाल को शान्ति क्षेत्र बनाने की माँग मंजूर करवा आये हैं। श्रीलंका में और जिया के पाकिस्तान में भारत-विरोध की भावना पहले से और बढ़ी ही है, घटी नहीं। और तो और, अब तो भूटान भी चुपके-चुपके भारत से दूर खिसकता जा रहा है।

१०१ निर्गुट देशों का अध्यक्ष बनकर अनेक अफ्रीकी एशियाई देशों की नेतागिरी करने का अवसर पाकर हम फूले नहीं समाए थे, परन्तु जब यूनेस्को के प्रबन्धक बोर्ड के अध्यक्ष का चुनाव हुआ तो भारत के उम्मीदवार श्री त्रिलोकी नाथ कौल को अफ्रीका के छोटे से देश घाना के प्रतिनिधि ने हरा दिया। इसी प्रकार अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों में अपने प्रतिनिधि को चुनवाने में हमको प्राय: सफलता नहीं मिली। हम गुट-निरपेक्षता के आदर्श को अपनी खास धरोहर मानते हैं और संसार

में उसके सबसे बड़े पुरस्कर्ता भी हमी हैं, परन्तु इस नाटक से व्यक्तिगत रूप से श्रीमती इन्दिरा गाँधी का वर्चस्व चाहे जितना बढ़ा हो, भारत का वर्चस्व बढ़ा नहीं दीखता।

ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों को करने में अपने आतिथ्य-प्रेम का जिस उदारता से हमने परिचय दिया है, उस उदारता का सबसे बड़ा असर हमारे कोष पर पड़ा है। कहा जाता है कि इस समय भारत विदेशों के २५ हजार करोड़ रुपये के ऋणों के नीचे दबा है और हमारी विदेशी मुद्रा की राशि दिन प्रतिदिन घटती गई है। अपने ऋणों को चुकाने के लिए हमें विश्व बैंक से उधार भी लेना पड़ा। परन्तु वह सारी उधार ली हुई राशि भी देश के विकास कार्यों में खर्च होने के बजाय अधिकतर उदारतापूर्ण अतिथ्य, शान-शौकत, और साज-सज्जा में ही खर्च होती रही।

जहाँ तक स्वदेश का सम्बन्ध है उसमें तीन समस्यायें सबसे बड़ी हैं—बेरोजगारी, महँगाई और भ्रष्टाचार। इन तीनों समस्याओं की पूर्ति में हम कहाँ तक सफल हुए, यह बताने में आँकड़ों के अम्बार भी सहायक नहीं हो सकते। सरकारी कर्मचारियों का भत्ता उधर बढ़ता है और इधर महँगाई उससे दुगनी बढ़ जाती है। रोजगार के साधन जितने विकसित किये जाते हैं, बेरोजगारों की संख्या उसी अनुपात में कहीं अधिक बढ़ जाती है। कोढ़ में खाज की तरह, भ्रष्टाचार तो अब जैसे शिष्टाचार बनता जा रहा है। भ्रष्टाचार की शिकायतें अब लोगों की चौंकाती नहीं। और तो और, अब बलात्कार की घटनायें भी जिस प्रकार बढ़ती जाती हैं, उससे शासन की अव्यवस्था और दण्ड-विधान की अपर्याप्तता का तो पता लगता ही है, अब इन घटनाओं ने जन-मानस को झकझोरना भी छोड़ दिया है। जब सामूहिक बलात्कार, सामूहिक अपहरण और सामूहिक हत्यायें भी प्रायः रोज ही अखबारों की सुर्खियाँ बढ़ाने लगें, तो उस देश के नागरिकों के लिए गर्व करने की कौन-सी बात रह जाती है?

कभी अन्त्योदय, कभी काम के बदले अनाज, और कभी गरीबों को बैंकों से ऋण दिलाने के आन्दोलन चलते हैं, परन्तु उन सब आन्दोलनों में वोट-प्राप्ति की राजनीति जितनी रहती है, उतनी गरीबों की भलाई नहीं। नहीं तो इसका क्या कारण है कि देश में अनाज की पैदावार भी बढ़े, परन्तु अनाज सस्ता होने के बजाय और महँगा हो जाए। और मालों की अपेक्षा चीनी का भी इस वर्ष भंडार कई गुना अधिक भरा होने का दावा भी किया जाय और साथ ही उसकी कीमत भी बढ़ा दी जाय। गाय की चर्बी के सम्बन्ध में "मैं नहीं तू, मैं नहीं तू" की जो राजनीति चली, उसका परिणाम यह हुआ कि तेल इतना महँगा हो गया जितना घी भी नहीं था। और घी? धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती चली जा रही है कि डाक्टर लोग अपने नुस्खे में यह लिखा करेंगे कि बीमार को एक दिन में एक चम्मच घी भी दिया जाय। दैनिक उपयोग की ऐसी कौन सी वस्तु है जिसकी पैदावार बढ़ने का दावा न किया जाता हो और फिर वह पहले से महँगी न हो गई हो? और तो और, गरीबों के लिए ईंधन का काम करने वाला कोयला भी अब धीरे-धीरे अपने "काला सोना" नाम को सार्थक करने वाला बनता जा रहा है। अर्थशास्त्र का यह कौन सा सिद्धान्त है कि पैदावार जितनी अधिक बढ़े महँगाई भी उतनी अधिक बढ़े? यह तो माँग और पूर्ति के सिद्धांत का सर्वथा हनन हो गया।

सच तो यह है कि ज्योतिषियों के चक्कर में फँसी हुई हमारी जाति आसमान की ओर देखने की आदी हो गई है। हमारे नेता भी तो हमारी मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए हवाई जहाजों से सफर करते-करते उनको भी धरती के बजाय आसमान की ओर देखने की आदत पड़ गई है। हवाई जहाज में बैठे मुसाफिर को धरती दिखती ही कहाँ है? हमारे राजनेता को भी जब चुनाव का अवसर आता है तभी वोट प्राप्त करने के लिए धरती के वासियों की ओर और धरती की ओर देखने की नौबत आती है। उससे पहले तो उसकी

नजर हमेशा "बड़े-बड़े नक्शों" पर रहती है। उन बड़े नक्शों में यह तो शामिल है कि भारत की राजधानी को कैसे पेरिस बना दिया जाय, परन्तु उन नक्शों में यह शामिल नहीं है कि सिंचाई के साधनों के अभाव में किसान कैसे जीता है, उद्योगीकरण की लहर ने पुश्तैनी ग्रामीण धन्धों को कैसे समाप्त कर दिया है, गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले करोड़ों लोग कैसे जीवन-यापन कर रहे हैं, देश का आम नागरिक महँगाई की मार से किस प्रकार पीड़ित और प्रताड़ित है और भ्रष्टाचार तथा काले धन ने किस प्रकार एक समानान्तर सरकार स्थापित कर रखी है? इसलिए जब तक हम प्राथमिकतायें नहीं बदलेंगे तब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की मेजबानी करके और उसमें अरबों रुपया स्वाहा करके हम जनजीवन को सुखी नहीं बना सकते। बड़े नक्शों के बजाय प्राथमिकतायें बदलकर अब छोटे नक्शों को आजमाने का वक्त आ गया है।

[जनवरी २२, १९८४ ई०]

मानवाधिकार आयोग

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने जब संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता, समाजवाद और लोकतन्त्र को राज्य का आधार बनाया था तब उनके मन में क्या स्वप्न थे, यह इस समय कल्पना करना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन संविधान निर्माताओं ने अपनी ओर से बहुत दूरदर्शिता का परिचय दिया था। आश्चर्य की बात यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जितनी भी सरकारें आईं, वे चाहे किसी भी राजनैतिक दल की रही हों, पर उनमें से किसी ने भी संविधान की उन आकांक्षाओं को ईमानदारी से पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया। बल्कि इसके विपरीत संविधान की भावनाओं का उल्लंघन करने वाले कायदे-कानून बनाने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। उदाहरण के लिये, लोकतन्त्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता की दृष्टि से भारत का प्रत्येक नागरिक, चाहे वह किसी मत का मानने वाला हो तथा किसी भी वर्ण या वर्ग का हो, और किसी भी प्रान्त का निवासी हो, चाहे किसी भाषा का बोलने वाला हो, उसके औरों के समान ही अधिकार हैं। मजहब, जाति, भाषा या प्रदेश के भेद से किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव का बर्ताव करना संविधान की भावना के सर्वथा विपरीत है। स्वयं केन्द्रीय सरकार ने निरन्तर संविधान की भावना के विपरीत आचरण का उदाहरण पेश किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि राजनैतिक दलों के सामने कुर्सी और वोट के पीछे अन्य सब कुछ हेय हैं।

आज के विपक्षी राजनैतिक दल, कांग्रेस-आई की सरकार पर उक्त आरोप लगाते हैं। परन्तु जब जनता पार्टी की सरकार आई थी—जिसमें समस्त विपक्षी दल ही शामिल थे, तब उसने अल्पसंख्यक आयोग

स्थापित करके ऐसा भयंकर पाप किया था जिसे देश का प्रबुद्ध नागरिक कभी क्षमा नहीं कर सकता। अनुसूचित और परिगणित जातियों के आरक्षण के पक्ष में शायद कुछ तर्क दिया भी जा सके, हालांकि वह भी संविधान की भावना के विरुद्ध है, परन्तु अल्पसंख्यक आयोग का निर्माण तो सरकार द्वारा देश में विघटन के बीज बोना है। जब देश के प्रत्येक नागरिक को समानता का दर्जा दिया है तब देश के नागरिकों को अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के नाम से बाँटना कहाँ तक उचित है? अल्पसंख्यक आयोग के निर्माण के पीछे केवल राजनैतिक लाभ की दृष्टि थी। क्या बहुसंख्यक होना अपराध है? या अल्पसंख्यक होना कोई पुण्य कार्य है? परन्तु जिस देश की राजनीति ने सन् १९१६ से लेकर आज तक हमेशा बहुसंख्यक वर्ग की उपेक्षा की है, उसी राजनीति ने बहुसंख्यकों को चोर के रूप में कटघरे में खड़ा कर दिया और अल्पसंख्यकों को साहूकार बनाकर बगल बजाने का अवसर दे दिया। ८५ प्रतिशत हिन्दुओं का अस्तित्व १५ प्रतिशत अल्पसंख्यकों के सामने नगण्य हो गया। राजनैतिक नेता इन्हीं १५ प्रतिशत अल्पमतों को सन्तुष्ट करने के लिए बहुसंख्यकों की भावनाओं का लगातार निरादर करते रहे। इसीलिए अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति का निर्माण हुआ, क्योंकि राजनेताओं को अपनी कुर्सी उन्हीं अल्पसंख्यकों के वोटों के ऊपर टिकी हुई दिखाई देती थीं।

आखिर राष्ट्र का अर्थ क्या होता है? राष्ट्र केवल ईंट-पत्थरों से निर्मित या नदी और पहाड़ों की सीमाओं से घिरे किसी भूखण्ड का ही नाम नहीं है। वह उसका केवल भौगोलिक और भौतिक रूप है। राष्ट्र की असली आत्मा तो उस भूखण्ड के निवासी ही होते हैं। राष्ट्र के उन निवासियों के कल्याण के लिए समाज-शास्त्र के कुछ नियम हैं। महात्मा बुद्ध ने कभी **"बहुजय हिताय, बहुजन सुखाय" लोकानुकम्पाय"** का उद्घोष किया था। महात्मा बुद्ध की उसी वाणी में से अब "बहुजन हिताय" के नारे को कांग्रेस-आई ने भी अपनाया है। परन्तु उसका

आचरण "बहुजन हिताय" के बजाय "अल्पजन हिताय" ही है। राष्ट्रीयता का क्या अर्थ है—यही न कि राष्ट्र के समस्त नागरिक एक-राष्ट्र की विचारधारा से ओत-प्रोत हों और अहर्निश राष्ट्र के अधिकतम लोगों के कल्याण के लिये प्रयत्नशील हों। यदि कहीं अधिकतम कल्याण और अल्पतम कल्याण में परस्पर विरोध हो, तो अल्पतम लोगों को अधिकतम लोगों के कल्याण के लिए त्याग करना चाहिये। इसी का नाम राष्ट्रीयता है और इसके विपरीत साम्प्रदायिकता है। नीतिकारों ने स्पष्ट निर्देश दिया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

पूरे परिवार के हित के सामने एक व्यक्ति के हित का त्याग किया जा सकता है क्योंकि तभी कुल या परिवार में सौमनस्य सम्भव है। यदि किसी ग्राम का हित होता है तो एक परिवार के हित का त्याग किया जा सकता है। यदि किसी जनपद का हित होता हो तो ग्राम के हित की उपेक्षा की जा सकती है और यदि सारे राष्ट्र का हित हो तो जनपद के हित का भी त्याग किया जा सकता है। यही व्यावहारिक राजनीति है। यदि कोई अध्यात्म के पथ पर चलकर एकाकी मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो उसको सारे संसार का त्याग कर एकान्त में जाकर योगाभ्यास करने की छूट है। परन्तु आजकल जो राजनीति चल रही है उसमें इससे सर्वथा उल्टा हो रहा है। आजकल राष्ट्र पर प्रदेश हावी हो रहे हैं, प्रदेशों पर ग्राम हावी हो रहे हैं, गाँवों पर चन्द परिवार हावी हो रहे हैं और परिवारों पर अंगुलियों पर गिने जाने वाले व्यक्ति हावी हो रहे हैं। देश की वर्तमान राजनीति की यही सबसे बड़ी विडम्बना है।

अल्पसंख्यक आयोग बनाने का परिणाम यह हुआ कि अल्पसंख्यकों को जो विशेषाधिकार दिये गये उन्हें पाने के लिये होड़ चल पड़ी और निरन्तर यह माँग की जाने लगी कि हमको भी अल्पसंख्यकों में शामिल

किया जाय। यह ठीक वैसी ही बात है जैसे कि हरिजनों को आरक्षण देने पर गैर-हरिजन भी अपने आप को हरिजन सिद्ध करने में लग गये। केरल के मुसलमानों ने यह शिकायत की है कि केवल मोपलाओं को ही पिछड़े वर्ग में शामिल क्यों किया गया, गैर-मोपला मुसलमानों को भी पिछड़े वर्गों में शामिल समझा जाय। वैसे तो मोपलाओं को पिछड़े वर्ग में शामिल करना सभी रीतियों से गलत है। जो मुसलमान यह दावा करते हैं कि इस्लाम ग्रहण करते ही जातीय समानता प्राप्त हो जाती है वे अपने आपको पिछड़े वर्गों में शामिल करने की माँग किस मुँह से करते हैं? मुख्य बात वही है कि पिछड़े वर्गों को मिलने वाले विशेषाधिकारों का वे लाभ उठाना चाहते हैं जबकि अल्पसंख्यकों को मिलने वाले विशेषाधिकारों का लाभ वे पहले से ही उठा रहे हैं। अल्पसंख्यकों को ये विशेषाधिकार सदा बहुसंख्यकों की कीमत पर ही प्राप्त होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भारत में अल्पसंख्यक आयोग का निर्माण सरासर अवैधानिक है। अगर सरकार को कोई आयोग बनाना ही था तो वह मानवाधिकार आयोग बनाती। उस आयोग की भारत के संविधान के साथ पूरी संगति होती। अल्पसंख्यक आयोग तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि-संहिता और भारतीय संविधान दोनों दृष्टियों से गलत है। इस आयोग के रहते कभी अल्पसंख्यकों से आशा नहीं की जा सकती कि वे राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलत होने का प्रयत्न करेंगे। राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल होने के बजाय वे सारे राष्ट्र को ही अपनी अल्पसंख्यक धारा में निचोड़ना चाहेंगे। इस समय देश में यही हो रहा है। एक ओर भारतीय संविधान है और ताजीरात हिन्द तथा भारतीय सिविल कोड है, और दूसरी ओर अल्पसंख्यकों की अपनी अलग मान्यताएँ हैं जिन पर वे आग्रहपूर्वक टिके रहना चाहते हैं। उदाहरण के लिये 'मुस्लिम पर्सनल ला' ऐसा ही कानून है। भारतीय संविधान के सर्वथा विरुद्ध 'मुस्लिम पर्सनल ला' को अब सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी गई है और सुप्रीम कोर्ट ने भारत सरकार को नोटिस भी दे दिया है। देखना यह है कि अल्पसंख्यक आयोग की निर्माता भारत सरकार अब क्या रुख अपनाती है।

[जनवरी २९, १९८४ ई०]

मुस्लिम पर्सनल ला

शाहनाज—एक मध्य वर्गीय कामकाजी मुस्लिम महिला। उसका पति बम्बई में अर्थशास्त्र का प्रोफेसर। दोनों सुन्नी मुसलमान। पति के मन में एक दिन उचंग उठी और अपनी पत्नी को तीन बार कहा—"तलाक, तलाक, तलाक।" बेचारी औरत ईमान की पाबन्द। मुस्लिम कानून के अनुसार यदि पति तीन बार तलाक शब्द का उच्चारण करके बिना किसी बात के अपनी पत्नी को तलाक दे दे, तो उस बेचारी के पास उस तलाक को स्वीकार करने के सिवाय और चारा भी क्या है। इसके अलावा यहाँ तो पति ने अपने मर्द होने के हक से, यदि पत्नी तीन बार तलाक कह देने पर भी तलाक स्वीकार करती तो उसे पिटवाने की पूरी तैयारी कर रखी थी। इसलिए बेचारी शाहनाज को इस तलाक को नतमस्तक हो स्वीकार करने के और कोई रास्ता नहीं था। परन्तु उसकी निर्दोष आत्मा ने धर्म के नाम पर की गई इस ज्यादती को स्वीकार नहीं किया। आखिर उसने अदालत की शरण ली।

अदालत में जाते ही यह विषय केवल दो व्यक्तियों का निजी मामला नहीं रहा, बल्कि वह सार्वजनिक चर्चा का विषय बन गया और देखते-देखते जनता दो वर्गों में बँट गई। एक वर्ग इन्साफ के नाम पर शाहनाज का पक्ष लेने लगा और दूसरा वर्ग इस्लाम के नाम पर उसके प्रोफेसर पति का। शाहनाज का पक्ष लेने वाला बम्बई के वकीलों का एक पूरा गुट है और प्रोफेसर का पक्ष लेने वाला जमायते उल उलेमीन के लोगों का एक ऐसा वर्ग है जिसमें कट्टर और मतान्ध मुल्ला-मौलवी हैं। जमायते उल उलेमीन अपनी मतान्धता के लिए विख्यात रहा है और इस बीसवीं सदी में भी वह समस्त मुस्लिम समाज को अब से १४ साल पहले के सामन्तकालीन समाज से ऊपर उठने नहीं देना

चाहता। वह कुरान के शब्दों का अक्षरशः पालन करना अपना कर्त्तव्य मानता है फिर भले ही मानवीयता या किसी राष्ट्र के कायदे-कानून कुछ भी क्यों न कहते हों। वह यह भी मानता है कि इस्लाम ने स्त्रियों को जो अधिकार और दर्जा दे रखा है वह संसार के किसी अन्य धर्म में नहीं है। अक्षरशः ठीक

परन्तु शाहनाज के वकील ने सुप्रीम कोर्ट में दरख्वास्त दी है कि कुरान में सूदखोरी पर पाबन्दी है, गुलामी की प्रथा को स्वीकृति दी गई है और स्त्री या पुरुष को विवाहेतर सम्बन्धों पर कोड़े लगाने की सजा निश्चित की है। आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत, तथा खून के बदले खून जैसे सिद्धान्त को मान्यता दी है। कुरान ने कत्ल के बदले में आर्थिक मुआवजे को भी स्वीकार किया है और चोरी करने पर हाथ काट देने का विधान किया है। दूसरी तरफ भारत की सरकार द्वारा स्वीकृत कानून और व्यवस्था के अन्तर्गत जो ताजीरात हिन्द, हिन्दू—मुस्लिम के भेद भाव के बिना जनता के सभी वर्गों पर लागू होता है, उसमें कर्ज देने पर ब्याज लेने की अनुमति है. गुलामी की प्रथा को गैर-कानूनी माना गया है, खून के बदले खून, आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत के सिद्धान्त को कहीं मान्यता नहीं दी गई। विवाहेतर सम्बन्धों पर कोड़े लगाने या चोरी करने पर हाथ काटने जैसी अमानवीय बातों को भी उसमें कहीं शामिल नहीं गया। इसी के साथ एक पुरुष की एक पत्नी और तलाक देने के लिए भी कारण बताते हुए पूरी अदालती कार्यवाही से गुजरने की व्यवस्था है। प्रश्न यह है कि इस असंगति को कैसे दूर किया जाय? एक तरफ कुरान की व्यवस्था है, दूसरी तरफ धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीय सरकार की व्यवस्था है।

जो देश अपने आपको कट्टर इस्लामी कहते हैं, उनमें भी कुरान में वर्णित इस्लाम की इन पुरानी मान्यताओं का कहाँ तक पालन होता है, यह कहना कहना कठिन है। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि

जब-जब कोई तानाशाह किसी इस्लामी देश की जनता पर अपना खूनी पंजा कसना चाहता है, तब वह कट्टर मुसलमान होने का दम भरता है, वैसा ही दम्भ करता है और कुरान की इन शरीयतों को अपने देश की अशिक्षित या अर्धशिक्षित कानूनी जनता पर लादना चाहता है। परन्तु किसी भी देश की आधुनिक युग की जनता उन दकियानूसी कानूनों को आसानी से स्वीकार नहीं करती। इस समय कुछ इस्लामी देशों में कट्टरता का वही नशा सवार हैं और ईरान के खुमैनी से लेकर पाकिस्तान के जिया तक उसी नशे में मुबतिला हैं। आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति के पथ पर चलने को आतुर उन देशों की जनता में और उनके तानाशाहों में, प्रच्छन्न या प्रकट रूप से यह संघर्ष भी किसी न किसी रूप में जारी है।

स्वयं इस्लामी देशों ने भी किसी हद तक परिवार-नियोजन को स्वीकृति दी है और किसी हद तक चार बीबियाँ रखने के हक पर भी अंकुश लगाया है। स्वयं पाकिस्तान के तानाशाह जनरल जिया ने भी जनता के विरोध के आगे घुटने टेकते हुए अब स्त्रियों को कोड़े न लगाने का और पुरुषों में भी १८ साल के कम और ४५ साल से ज्यादा उम्र के लोगों को कोड़े न लगाने का निर्णय किया है। इसी तरह चोरी करने पर हाथ काटने की सजा भी अमानवीय समझी जा रही है। परन्तु हिन्दुस्तान जैसे धर्म-निरपेक्ष देश के मुसलमानों की मनोवृत्ति एकदम भिन्न है। वे एक तरफ भारतीय संविधान और ताजीरात हिन्द की व्यवस्थाओं को स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ कुरान की उन व्यवस्थाओं को भी, जो भारत के दण्ड विधान और सिविल कोड के सर्वथा विपरीत हैं। और तो और, कट्टर मुसलमानी देशों में भी जिन चीजों की ढील दी जा रही है, भारत के मुल्ला-मौलवी उनमें भी ढील देने को तैयार नहीं है। इसीलिए बार-बार सरकार को आगाह किया जाता है कि वह मुस्लिम पर्सनल ला में कोई दखल न दे।

इसका परिणाम यह होता है कि एक पत्नी के रहते हुए जब किसी

को दूसरी शादी करनी होती है, तो वह इस्लाम की शरण लेता है और तब भारत की सारी कानून-व्यवस्था रखी रह जाती है। यही बात तलाक के साथ भी है। पति ने तीन बार तलाक कह दिया तो मुस्लिम महिला के पास बचाव का कोई रास्ता नहीं रहता। कुरान के अनुसार मुस्लिम स्त्रियों को पर्दे में रहना जरूरी है और अगर कोई मुसलमान अपनी सम्पत्ति की वसीयत के बिना मर जाय तो उसकी बेटी को बेटे के मुकाबले में केवल आधा हिस्सा मिलेगा। किसी तलाकशुदा स्त्री को अपने गुजारे के लिए ५००/-रु० मासिक से अधिक मिलने की व्यवस्था भी नहीं है। मुस्लिम स्त्रियों के साथ यह कैसा विचित्र समानता का व्यवहार है?

मुस्लिम देश क्या करते हैं और उनके तानाशाहों का क्या रवैया है, इस बात को हम नजर अन्दाज कर भी दें, तो भी भारत के मुसलमानों और भारत सरकार दोनों को सोचना होगा कि कुरान की जो व्यवस्थाएँ भारतीय कानून के विरुद्ध पड़ती हैं, उनका क्या समाधान किया जाय। हमारे मुसलमान भाई मुस्लिम पर्सनल लॉ की हिमायत करते हुए चार बीबियाँ रखने और तीन बार तलाक कहकर किसी एक बीबी को तलाक देने की हिमायत तो करते हैं, पर प्रश्न यह है कि क्या भारत के मुसलमान कुरान के आदेशानुसार यह भी पसन्द करेंगे कि उनको विवाहेतर सम्बन्धों पर कोड़े लगाये जाएँ और चोरी करने पर हाथ काटने की सजा दी जाय? यदि जमायते उलेमा वाले कुरान की इन सजाओं को भी स्वीकार करने को तैयार हों तो देश के मुस्लिम पर्सनल लॉ की दुहाई दें, अन्यथा मीठा-मीठा गप्प, कड़वा कड़वा थू से बात नहीं बनेगी। भारत सरकार को भी चाहिए की मुस्लिम पर्सनल लॉ की हिमायत करने वालों से कहे कि तुमको कुरान और हदीस पर आधारित मुस्लिम पर्सनल लॉ के हिसाब से ही चलना है तो उसको पूर्ण रूप से स्वीकार करने को तैयार रहो, नही तो भारतीय कानून के विरुद्ध धाराओं में संशोधन करने को भी तैयार रहना होगा। इसके बिना इन्साफ का और कोई रास्ता नजर नहीं आता।

शाहनाज के केस ने जब सुप्रीम कोर्ट में यह मामला पहुँचा दिया है और सुप्रीम कोर्ट ने भारत सरकार को नोटिस भी दे दिया है, तब यह उचित समय है कि भारत के मुसलमान और भारत सरकार दोनों ठण्डे दिल से सोचें कि आम जनता का हित किसमें है।

[फरवरी ५, १९८४ ई०]

नया ऋषिबोध

गत वर्ष गर्मियों में एक दिन भोपाल से श्री आदित्यपाल सिंह का पत्र मिला : "कल के अखबार में छपी एक खबर के अनुसार जनता पार्टी के सचिव, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और बहुचर्चित नेता, श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी कैलाश और मानसरोवर की यात्रा पर जा रहे हैं। यह बहुत अच्छा अवसर है। आप 'योगी के आत्मचरित्र में' ऋषि दयानन्द की कैलाश-मानसरोवर-ल्हासा की यात्रा का जो वर्णन है, उसके सम्बन्ध में उनसे बात करें। पुस्तक में वर्णित विवरण टाइप कराके उन्हें भेजें और उनसे कहें कि इस वर्णन की यथार्थता या अयथार्थता की वे अपनी यात्रा में जांच कर सकें, तो बहुत अच्छा हो। दिल्ली आई० आई० टी० में प्राध्यापक रहने के कारण वे शिक्षा के क्षेत्र से सम्बन्धित रहे हैं, इसलिए इस प्रकार की खोज के महत्व को अवश्य समझते होंगे और इसमें उनकी रुचि भी होगी।"

बात काम की थी। हमने श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी से सम्पर्क किया। 'योगी के आत्मचरित्र' में ऋषि की तिब्बत-यात्रा वाला विवरण उन्हें टंकित करवाके भिजवाया। उसकी पहुँच की स्वीकृति भी उनकी आ गई। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि इस विषय की महत्ता को तो मैं समझता हूँ, पर अब राजनीति में पड़ कर इतनी व्यस्तताओं में उलझ गया हूँ कि इस प्रकार के ठोस काम के लिए धैर्य और समय दोनों का ही मेरे पास अभाव है। फिर मैं इस वर्ष कैलाश-मानसरोवर की यात्रा पर नहीं जा रहा हूँ, वह यात्रा तो पिछले वर्ष कर आया हूँ। अब तो मैं चीन जा रहा हूँ—और वह यात्रा विशुद्ध रूप से राजनीति-प्रेरित है, यह आप जानते ही हैं। हाँ, एक काम आप कर सकते है। स्वामी प्रणवानन्द पिथौरागढ़ में रहते हैं। कैलाश-मानसरोवर तिब्बत के

विषय में जीवित व्यक्तियों में वही सबसे अधिक प्रामाणिक व्यक्ति हैं। आप उनसे सम्पर्क करिये और यह काम उन्हें सौंपिये।

स्वामी प्रणवानन्द के नाम-काम-धाम से हम परिचित थे। वे २५ वर्ष तक मानसरोवर के तट पर रहे हैं। कैलाश और मानसरोवर पर अंग्रेजी और हिन्दी में लिखी उनकी अपने विषय की सबसे अधिक प्रामाणिक पुस्तकें हैं। (हिन्दी में 'कैलाश-मानसरोवर' पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने छापी थी जिसकी भूमिका श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखी थी। बाद में, अंग्रेजी में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उसको और परिवर्धित रूप में छापा था। उसकी भूमिका उस समय के प्रधान मंत्री श्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। फिलहाल ये दोनों ही पुस्तकें दुर्लभ हैं। इसी वर्ष इस विषय में रुचिबद्ध श्री रणजीत राय, पृथ्वीराज रोड, नई दिल्ली-११, ने अपने खर्च से अंग्रेजी वाला वही संस्करण पुनः प्रकाशित किया है, जिसकी पक्की जिल्द, पुस्तकालय-संस्करण, का मूल्य १०० रु० और सामान्य संस्करण का मूल्य ८० रु० है।) हिमालय तथा सीमान्तवर्ती प्रदेशों के मानचित्रों को अन्तिम रूप देने से पहले भारत सरकार का सर्वे विभाग स्वामी जी से ही परामर्श करता है। भारत सरकार ने स्वामी जी को भारत भर में रेल-यात्रा का 'फ्री पास' भी दे रखा है। आन्ध्र प्रदेश के निवासी श्री प्रणवानन्द जी ने सन् १९१० में लाहौर के डी० ए० वी० कालिज से बी० एस-सी० पास किया था। उन्होंने स्वातत्र्य संग्राम में कांग्रेस आन्दोलन में भी भाग लिया। चिरकाल से हिमालय और तिब्बत उनके अध्ययन का विषय रहे है। इस समय वे अपनी आयु के ८८ साल पूरे कर चुके हैं, फिर भी जीवन में पूरी तरह सक्रिय हैं और उनका लिखना-पढ़ना निरन्तर चलता रहता है।

फलस्वरूप, उनसे पत्रव्यवहार शुरू हुआ। ऋषि की तिब्बत यात्रा का टंकित विवरण उन्हें भेजा और उनकी राय मांगी। प्रथम पत्र में उन्होंने लिखा—"विवरण असम्भव बातों से भरा है। जितने दिनों में

ऋषि द्वारा ल्हासा की यात्रा पूरी करने का वर्णन है, उतने दिनों में वह यात्रा सम्भव नहीं है। स्थानों के नाम और उनकी दूरियाँ भी ऊटपटांग हैं। और भी अनेक असंगत बात है।" उनके द्वारा बताई गई असंगतियों का, कैलाश-मानसरोवर और तिब्बत सम्बन्धी अपनी यत्किंचित् जानकारी के आधार पर, हमने अपनी ओर से समाधान किया। अगले पत्र में स्वामी जी ने लिखा – "तुम्हारे समाधानों में दम है। पर मैं अभी पूरी तरह आश्वस्त नहीं हूँ कि ऋषि ने ल्हासा की यात्रा की ही थी। मैं 'योगी का आत्मचरित्र' नामक पूरी पुस्तक ही पढ़ना चाहता हूँ—जिससे पूर्वापर प्रसंग की भी जानकारी हो सके। उसके बाद ही अपनी निश्चित सम्मति बनाऊँगा।"

उन्हें पुस्तक भेज दी गई। उन्होंने सूक्ष्मता से पुस्तक का पारायण किया। उसके बाद उन्होंने लिखा—"अब मुझे लगता है कि ऋषि ने तिब्बत की यात्रा की है और यह सारा विवरण सही है। फिर भी कुछ असंगतियाँ अभी बाकी हैं—जिन्हें साथ बैठ कर ही सुलझाया जा सकता है।"

पत्र-व्यवहार जारी रहा। उन्हें दिल्ली आने का निमंत्रण दिया। उन्होंने स्वीकार किया। पहले गत विजयादशमी के आसपास आने की बात थी। वह क्रियान्वित नहीं हुई। फिर इसी वर्ष मकर संक्रान्ति पर आने की बात हुई। वह भी पूरी न हो सकी। फिर अकस्मात् इसी फरवरी के प्रथम सप्ताह में एक दिन स्वामी जी का फोन आया—"मैं दिल्ली आ गया हूँ।"

हमने तुरन्त श्रद्धानन्द कालिज में संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० वेदव्रत 'आलोक'—और भोपाल स्थित इन्जीनियर, अनुसन्धानकर्ता, श्री आदित्य पाल सिंह को--जो दोनों शुरू से ही इस अभियान में हमारे साथ थे, सूचित किया। सूचना मिलते ही श्री आदित्यपाल सिंह दिल्ली आ गए। अन्ततः ७ फरवरी को आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग में ही इस विषय पर गम्भीर चर्चा हुई। सौभाग्यवश, मूर्धन्य विद्वान्

स्वामी सत्यप्रकाश जी उस दिन वहीं थे। वे भी चर्चा में शामिल हुए। प्रो० रत्नसिंह, आचार्य पुरुषोत्तम एम० ए०, आचार्य विक्रम शास्त्री एम० ए० भी हमारे आग्रह पर उपस्थित हुए। स्वमी प्रणवानन्द जी अपने साथ कई मानचित्र और पुस्तकें भी लाए थे। विषय वाद-विवाद का तो था नहीं, केवल भौगोलिक तथ्यों का ही प्रश्न था और उसमें निर्णायक मानचित्र ही हो सकते थे। ऋषि बद्रीनाथ के ऊपर माणा घाटा से होकर जिस रास्ते ल्हासा गए होंगे, उसी रास्ते के स्थानों और उनकी दूरियों का निर्णय करना था। अमुक स्थानों के बारे में वर्णित अन्य घटनाओं के विवरण के सम्बन्ध में स्वामी प्रणवानन्द जी की अपनी जानकारी मार्ग-दर्शक थी ही। ऋषि ने स्थानों की दूरियों का उल्लेख योजनों के हिसाब से, या 'वहाँ से इतने दिन की यात्रा है'—यह कह कर किया है। एक योजन पहले कभी चार मील का माना जाता था, फिर दो मील का, और अन्ततः सवा मील का माना जाने लगा। इसलिये यह तो नितांत स्वाभाविक है कि योजनों को मीलों में परिवर्तित करने से दूरियों की दुविधा बनी रहेगी। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पहले स्वामी प्रणवानन्द जी जिन असंगतियों का उल्लेख करके ऋषि की तिब्बत-यात्रा के प्रसंग को अयथार्थ बता रहे थे, अब वे स्वयं उन असंगतियों का युक्तियुक्त समाधान कर रहे थे। अन्त में उन्होंने दृढ़ता-पूर्वक कहा : "मेरी यह स्पष्ट और सुविचारित राय है कि ऋषि दयानन्द ने ल्हासा की और कैलाश-मानसरोवर की यात्रा की थी, क्योंकि जो वर्णन किया गया है, वह इतना सही है और कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनका वर्णन बिना ल्हासा गए कोई नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, ऋषि ने ल्हासा के पास चीनियों की एक बस्ती होने का उल्लेख किया है, जिनका उल्लेख किसी अन्य पर्यटक ने नहीं किया। परन्तु वह बात सही है—यह मुझे भी कई साल तिब्बत में रहने के पश्चात् ही पता लगा था।

यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी

अन्त तक यही कहते रहे कि मैं इस सारे ऊहापोह को व्यर्थ मानता हूँ, क्योंकि जिस बात को ऋषि ने अपने किसी ग्रन्थ में नहीं कहा या खुले आम कहना उचित नहीं समझा, उसकी उधेड़बुन में पड़ने की हमें आवश्यकता ही नहीं है। पर हम इस बात से सहमत नहीं हो सके।

इसके बाद, स्वामी प्रणवानन्द जी से दो बार और अलग-अलग समयों पर विचार हुआ और 'योगी के आत्मचरित्र' में हिमालय तथा उत्तराखण्ड सम्बन्धी विवरणों में दृश्यमान असंगतियों पर चर्चा हुई तथा मानचित्रों के आधार पर उन असंगतियों के निराकरण का प्रयत्न किया गया। इस बीच स्वामी जी ने पूरी पुस्तक दो बार और पढ़ी और अन्त में फिर यही कहा – "पुस्तक में अप्रामाणिक कोई भी बात प्रतीत नहीं होती। कहीं-कहीं लेखकों के अज्ञानवश कुछ असंगतियाँ भले ही आ गई हों, परन्तु उससे पूरे कथ्य की प्रामाणिकता संदिग्ध नहीं हो जाती। उदाहरणार्थ, भारत भर में रामपुर ५ हैं, श्रीनगर २ है, गौरीकुण्ड ३ हैं—और ये सब अलग-अलग स्थानों पर हैं, इसलिए किसी भी लेखक के लिए भ्रम में पड़ जाना बड़ा स्वाभाविक है, क्योंकि सब स्थानों के जानकार सब नहीं हो सकते। अब यह विद्वानों का काम है कि इस प्रकार की असंगतियों का परिमार्जन करें।

स्वयं हमारे मन में भी ऋषि की तिब्बत-यात्रा के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ थीं, पर श्री स्वामी प्रणवानन्द जी से विचार-विमर्श के समय पता लगा कि इस प्रसंग की जिन बातों को आम लोग गप्प समझते हैं, वे गप्प नहीं हैं, प्रत्युत तिब्बत में वैसी परम्पराएँ रही हैं। हम हरेक चीज को अपने देश की परम्पराओं से नापते हैं, इसीलिए भ्रम हो जाता है। फिर इतिहास के क्रम में अनेक देशों में अनेक विचित्र प्रथाएँ रही हैं, इस सीमा तक कि अनेक पीढ़ियों के बाद जन्म लेने वाले स्वयं उस देश के निवासियों को भी सहसा यह विश्वास नहीं होता कि कभी हमारे देश में ऐसी प्रथाएँ भी रही होंगी। यह भूलना नहीं चाहिए कि सत्य कभी-कभी कल्पना से भी विचित्र होता है।

१४ वर्ष की आयु में (सम्भवतः सन् १८३८ में), शिवरात्रि के दिन शिवमंदिर में रात्रि-जागरण करते हुए, बालक मूलशंकर के मन में जो प्रश्न उत्पन्न हुआ है—'क्या यही सच्चा शिव है ?' उसी प्रश्न ने उसे सच्चे शिव की खोज के लिए प्रेरित किया। ऋषि का सारा जीवन उसी प्रश्न के उत्तर को समर्पित है। इसीलिए वह शिवरात्रि अमर हो गई, अब वह शिवरात्रि न रह कर ऋषिबोध-पर्व बन गया।

जिस तरह सिद्धार्थ को बोध प्राप्त हुआ तो वे 'बुद्ध' बन गए, इसी तरह मूलशंकर को ऋषि की पदवी तक पहुँचाने वाला बोध इसी पर्व पर हुआ, इसीलिए यह 'ऋषिबोध' के नाम से अभिहित हुआ। ऋषि-बोध अर्थात् ऋषि का बोध—मूलशंकर द्वारा ऋषि पदवी तक पहुँचने के लिए प्राप्त किया गया बोध। पर हमको ऋषि की कैलाश-मानसरोवर यात्रा के सम्बन्ध में जो नया बोध हुआ, वह भी तो ऋषि बोध है। 'नया ऋषिबोध' शीर्षक से हमारा अभिप्राय ऋषि सम्बन्धी इसी नये बोध से है।

ऋषि ने 'शिवम्' के साथ 'सत्यम्' को जोड़ कर शिव को सचमुच कल्याणकारी बना दिया। सत्य की उसी खोज के अनुयायी बन कर हम भी कल्याण-पथ के पथिक बनें।

[फरवरी २७, १९८४ ई०]

सिखों की 'बहादुरी'

गत सप्ताह ही प्रसिद्ध पत्रकार और लेखक तथा स्वयं सिख मत के अनुयायी सरदार खुशवन्त सिंह ने "घृणित षड्यंत्र" के शीर्षक से पंजाब की आधुनिक समस्या पर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

"जब देश को ऐसे नेताओं की जरूरत थी जिनमें जोश और होश का तथा दूरदर्शिता का मेल हो, ठीक उसी समय हमें ऐसे नेताओं से पाला पड़ा जो उच्च रक्तचाप, दुष्ट स्वभाव और अपनी नाक के आगे न देख सकने की बीमारी से पीड़ित हैं। क्या उनमें से कभी किसी ने सोचा है कि जिसको हमारी सरकार डाकू और अखबार उग्रवादी कह रहे हैं, उन लोगों के इरादे क्या हैं? यदि उन्होंने यह समझने का प्रयत्न किया होता तो वे उस संविधान को जलाने का विचित्र दृश्य कभी उपस्थिति न होने देते, जिसका उन्होंने कभी सावधानी से अध्ययन भी नहीं किया और न ही वे ऐसे 'बन्धों' का आयोजन करते जो ठीक वही काम करते हैं जिन्हें उग्रवादी कृपाणों और बन्दूकों से कर रहे हैं।

"इन उग्रवादियों के इरादे क्या हैं, उनको मैं जैसा समझता हूँ उसे साफ सीधी भाषा में कहता हूँ। यद्यपि यह शैतानों का झुण्ड सिख नाम के अन्तर्गत आता है, परन्तु जिस तरह उनके मन में गुरुओं की शिक्षा के प्रति कोई आदर नहीं है, न ही देश और सिख सम्प्रदाय के प्रति उनके हृदय में कोई हित की भावना है, उसे देखकर मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि वे न तो सिख हैं न ही भारतीय हैं। उनकी संख्या ३०० से लेकर ४०० तक से अधिक नहीं होगी। यदि ठीक ढंग से पेश आया जाता तो उनकी शरारत को शुरू में ही समाप्त किया जा सकता था,

परन्तु हिम्मत से काम लिया जाय तो अब भी उनका इलाज किया जा सकता है।

"इन उग्रवादियों के इरादे बहुत साफ हैं—पंजाब में कुछ हिन्दुओं की हत्या कर डालो जिससे कि पंजाब के बाहर रहने वाले सिखों के विरुद्ध हिन्दुत्व के दीवाने भड़क उठें। यदि इसी प्रकार हत्याओं की आये दिन की ये वारदातें कुछ समय तक लगातार चलती रहें तो जहाँ एक ओर पंजाब में रहने वाले हिन्दुओं में असुरक्षा की भावना पैदा होगी, वहाँ दूसरी ओर पंजाब के बाहर रहने वाले सिख भी अपने आपको असुरक्षित समझने लगेंगे। फिर धीरे-धीरे वे अपने-अपने घरों और अपने रोजगार-धन्धों को छोड़कर ऐसे प्रदेशों की ओर जाने लगेंगे जहाँ वे अधिक सुरक्षित रह सकें। भले ही अपने प्रदेशों को छोड़ने को यह काम उसी पैमाने पर न हो जिस बड़े पैमाने पर सन् १९४७ में हुआ था। परन्तु यदि एक करोड़ बीस लाख सिखों में से अधिकांश लोग अन्य प्रदेशों को छोड़कर पंजाब में आ जायें, तो वह सही मायनों में खालिस्तान बन जायेगा।

"क्या हम चाहते हैं, कि ऐसा हो? मुझे पक्का निश्चय है कि प्रत्येक देशभक्त भारतीय, जिनमें ९९% सिख भी शामिल हैं, जरूर यह उत्तर देगा—"नहीं, हजार बार नहीं!" फिर हम सिख उग्रवादियों को और हिन्दुत्व के दीवानों को खुली छूट क्यों दे रहे हैं और इस समस्या को उस ढंग से क्यों नहीं निपटते जिस ढंग से निपटना चाहिए? अपनी समझ के अनुसार मैं निम्न कदम उठाने का सुझाव देता हूँ—प्रथम, पंजाब और हरियाणा के मामलों से सुलटने के लिये एक ही प्राधिकारी मण्डल होना चाहिए और अन्य सब प्राधिकारियों को हटा देना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मैं यह भी सलाह दूँगा कि इन दोनों राज्यों में, और किसी भी ऐसी जगह जहाँ साम्प्रदायिक हिंसा फूट पड़े, वहाँ 'मार्शल ला' (फौजी कानून लागू) कर दिया जाय। द्वितीय, उदारवादी अकाली नेताओं से सम्पर्क स्थापित करो और उनके सहयोग से

भिंडरावाले समेत सब अपराधी तत्वों को स्वर्ण मन्दिर से निकालो तथा आतंकवादी गिरोहों पर कड़े से कड़ा प्रहार करो। परन्तु साथ ही किसी भी कीमत पर हरमन्दिर के अन्दर जबरदस्ती घुसने का प्रयत्न मत करो—वहाँ जो खून की नदी बहेगी वह सब सिखों की सहानुभूति खत्म कर देगी और खालिस्तान का रास्ता साफ हो जायेगा। एक बार ये दोनों उद्देश्य जब पूरे हो जाएं तब अकालियों के साथ राजनीतिक समझौता के लिए बातचीत शुरू की जाए।

"मैंने कई राजनीतिज्ञों के सामने अपनी यह योजना प्रस्तुत की जिसमें सदा-वाचाल तारकेश्वरी सिन्हा भी शामिल है। अपने ढंग से उद्गार प्रकट करने वाली श्रीमती सिन्हा ने तुरन्त यह शेर पढ़ा—

जुनू का दौर है, किस-किस को जायें समझाने।
उधर भी अक्ल के दुश्मन, इधर भी दीवाने।"

श्री खुशवन्त सिंह के इस लम्बे उद्धरण पर हमें अपनी ओर से कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है, हालांकि उन्होंने उग्रवादी सिखों को और हरियाणा के हिन्दुओं को एक ही तराजू पर रखने की कोशिश की है और हरियाणा तथा पंजाब का साथ-साथ नाम लेकर अपनी ओर से अपने विचारों को सन्तुलित दिखाने का प्रयत्न किया है। परन्तु फिर भी हम इसे श्री खुशवन्त सिंह की बहादुरी समझते हैं। ऐसी बहादुरी, जिसका अन्य सिख नेताओं और अन्य सिख बुद्धिजीवियों में सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है। हरियाणा के दो-तीन शहरों में दो-तीन दिन के लिए यदि कुछ अवांछनीय घटनायें घट गई तो उनकी तुलना पंजाब में महीनों से निरन्तर चल रही हत्याओं से नहीं की जा सकती। बल्कि सच तो यह है कि हरियाणा की आम जनता ने, केवल कुछ सिरफिरे लोगों की संख्या को छोड़कर, जिस अद्भुत संयम का परिचय दिया है, उसके लिए सब राजनैतिक नेताओं को हरियाणा की जनता की प्रशंसा करनी चाहिए।

पंजाब में हिंसा का जो नग्न तांडव लगातार चल रहा है और

पंजाब की पुलिस जिस तरह अपनी निष्क्रियता तथा अकाली आंदोलन के प्रति अपनी प्रच्छन्न सहानुभूति प्रदर्शित कर रही है, उसके मुकाबले में पानीपत में हरियाणा की पुलिस द्वारा केवल एक दिन अपने सामने होती हुई अवांछनीय घटनाओं के प्रति थोड़ी-सी उदासीनता दिखाने पर उसे बदनाम नहीं किया जाना चाहिए। क्या हरियाणा के सिपाहियों में दिल और दिमाग नहीं है? क्या वे निर्जीव हांड-मांस के लोथड़े हैं? क्या वे निरे पत्थर हैं? उनके भाइयों की पंजाब में सरेआम हत्या हो रही हो और सरकार बार-बार सख्त कदम उठाने की घोषणा करके भी कोई कारगर कदम न उठा रही हो, तो क्या इन जीवित जागृत मानवीय पुतलों के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी?

फिर, सच तो यह है कि दो-तीन दिन की अवांछसीय घटनाओं के पश्चात् हरियाणा में तो शांति स्थापित हो गई, परन्तु पंजाब में न केवल उग्रवादियों की कारस्तानियाँ लगातार जारी ही रही, तथाकथित उदारवादियों के चेहरों से भी नकाब उतर गया। उदारवादियों के नेता कहे जाने वाले श्री लोंगोवाल ने हरियाणा की घटनाओं से खिन्न होकर तो तुरन्त राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह को फोन किया और उसके दो दिन बाद ही भिंडरवाले के समर्थन में अपना बयान भी दाग दिया। इससे पता चल गया कि चाहे उग्रवादी हों और चाहे उदारवादी, वे सब एक ही थैली के चट्ट-बट्टे हैं। नहीं तो जिस तरह की साफ-साफ बात सरदार खुशवन्त सिंह ने कहकर अपनी बहादुरी प्रदर्शित की है उसी प्रकार की बहादुरी उदारवादी और समझदार राष्ट्रवादी सिखों से क्यों नहीं करनी चाहिए? जिस तरह बाहर से बहादुर दिखने वाले ये उग्रवादी हत्यारे गुरुद्वारों में शरण लेकर अपने आपको 'कायर शिरोमणि' साबित कर रहे हैं, उसी प्रकार इस समय पंजाब और पंजाब के बाहर जितने सिख हैं वे सब के सब भी केवल इस डर से कि उनका नाम भी कहीं 'हत्या सूची' (हिट लिस्ट) में शामिल न कर लिया जाय, चुपी साधे हुए उसी कायरता का प्रदर्शन कर रहे हैं।

क्या सिखों में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो खुलेआम यह घोषणा करे जो कि यदि पंजाब में कल से एक भी हिन्दू की हत्या हुई तो मैं आमरण अनशन करूँगा ? क्या समस्त सिख समुदाय भिंडरांवाले को स्वर्ण मन्दिर से बाहर निकलने को बाधित नहीं कर सकता ? एक ओर सरकार से यह आशा करना कि वह स्वर्ण मन्दिर में घुसने की हिमाकत न करे और दूसरी ओर स्वर्ण मन्दिर में हत्यारों को शरण देना, विदेशों से हथियार मंगाकर उनका 'जखीरा' जमा करना और छतों पर हत्यारों को ट्रेनिंग देना—क्या यह सब किसी भी समझदार सिख के बर्दाश्त करने के काबिल है ?

सच तो यह है कि श्री लोंगोवाल और भिंडरांवाले ने संयुक्त वक्तव्य देकर अपने इरादे स्पष्ट कर दिये हैं और सब आशाओं पर और सारी समझदारी पर पानी फेर दिया है। अब केवल हरियाणा की नहीं, बल्कि सारे देश की आम जनता को सोचना होगा कि उसे घृणित षडयंत्र के प्रति क्या रुख अपनाना चाहिए तथा साथ ही भारत सरकार को भी यह सोचना होगा कि वह देश को किधर ले जाना चाहती है। देश की एकता कुछ अविवेकी लोगों की सनक पर नहीं छोड़ना चाहते, तो स्वयं सिखों को अपनी राष्ट्रीय जिम्मेदारी निभानी होगी।

[मार्च ११, १९८४ ई०]

यह दुविधा क्यों ?

पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद और भारी संख्या में सीमा सुरक्षा बल तैनात किए जाने के बाद भी उग्रवादियों की हिंसा कम नहीं हुई और वे निरपराध लोगों के खून से होली खेलते ही रहे, तब तक लोकसभा में यह जोरदार माँग की गई कि गुरुद्वारों में घुसकर हत्यारों को गिरफ्तार करने में सरकार को संकोच नहीं करना चाहिए। इसके बावजूद सरकार की ओर से इस प्रकार का कोई कदम नहीं उठाया गया। गृह मन्त्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी बार-बार यह वक्तव्य दे चुके हैं कि हत्यारों को शरण देने वाले गुरुद्वारों में, पुलिस के घुसने में कोई कानूनी अड़चन नहीं है। एक बार तो इस प्रकार के वक्तव्य के बाद यह सम्भावना पैदा हो गयी थी कि पुलिस अब अपने कर्त्तव्य का पालन करेगी। उस स्थिति का मुकाबला करने के लिए स्वर्ण मन्दिर में लोहे का गेट बना दिया गया, खाईयां खोद दी गयीं और रेत की बोरियाँ इकट्ठी कर ली गयीं। साथ ही हथियारों का जखीरा भी जमा कर लिया गया। परन्तु केन्द्रीय सरकार के आदेश के अभाव में सारी तैयारी के बावजूद पुलिस ऐसा कुछ न कर सकी।

इसका कारण क्या है ?

पहला कारण तो यह बताया जाता है कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह किसी भी परिस्थिति में स्वर्ण मन्दिर में पुलिस के घुसने के खिलाफ हैं। एक बार तो यह अफवाह भी उड़ी थी कि यदि सरकार ने ऐसा कोई कदम उठाया तो उसके विरोध-स्वरूप राष्ट्रपति अपने पद से त्याग पत्र दे देंगे। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि गृह मन्त्रालय के अधिकांश वरिष्ठ अधिकारी इस पक्ष में नहीं हैं कि पुलिस स्वर्ण मन्दिर में प्रवेश करे। उनको शंका है कि ऐसा करने पर मन्दिर के अन्दर बड़े पैमाने पर खून-खराबी होगी और शायद सिज उद्देश्य की प्राप्ति

जिस

के लिए पुलिस स्वर्ण मन्दिर में घुसना चाहती है वह उद्देश्य भी पूरा न हो। इस खून-खराबी के अलावा स्वर्ण मन्दिर में पुलिस के घुसने की घटना के बाद का नतीजा और भी अधिक भयंकर हो सकता है। आम देहाती जनता, जिसमें अशिक्षित या अल्प-शिक्षित सिखों का बाहुल्य है, और जिनके मन में अपने धर्म के प्रति अंधश्रद्धा है, वह एकदम सरकार विरोधी बन जायेगी। इससे खालिस्तान का आन्दोलन और जोर पकड़ लेगा। इसके अलावा भारतीय सेना में विद्यमान सिख सैनिकों और उच्च पदस्थ सिख अफसरों में भी उसकी विपरीत प्रतिक्रिया हो सकती है।

इन दोनों आशंकाओं में थोड़ी बहुत सचाई हो सकती है। हम यह भी जानते हैं कि सरकार के जिम्मेदारी के पदों पर बैठकर किसी बात का निर्णय करते हुए उसके तात्कालिक परिणाम के बजाय भविष्य के दूरगामी परिणामों पर सोचना आवश्यक होता है। इसलिए सरकार को उपदेश देना जितना आसान है, स्वयं सरकार के लिए वह काम उतना आसान नहीं होता। पर सबसे बड़ी समस्या तो अनिर्णय की स्थिति की है। सरकार बारम्बार उग्रवादियों के प्रति कड़ाई बरतने की जो घोषणा करती है उसमें मुख्य बाधा यह अनिर्णय की स्थिति ही है। नहीं तो क्या कारण है कि अकालियों का आन्दोलन शुरू होने के बाद से अब तक १६५ निरपराध लोगों की हत्या हो चुकी है और अपराधी पकड़े नहीं जा सकें? जो भी कोई पुलिस का अफसर ईमानदारी से अपने कर्त्तव्य का पालन करने का प्रयत्न करता है, उग्रवादियों द्वारा उसी का नाम हत्या सूची में शामिल कर दिया जाता है।

अब तो 'संतप्रवर' स्वनामधन्य श्री भिंडरांवाले ने अपने अनुयायियों को पत्रकारों के सम्बन्ध में भी आदेश दिया है कि जो पत्रकार अकालियों के विरुद्ध समाचार देते हैं, फिर वे समाचार चाहे कितने ही सच क्यों न हो,—और जो अकालियों के विरुद्ध लेख लिखते हैं, उनको दो बार जबानी तौर पर और तीसरी बार पत्र लिख कर हिदायत दी

जाए और अगर तब भी वे अपने करनी से बाज न आवें तो उनका नाम भी नामशेष कर दिया जाय। ऐसी स्थिति में, पंजाब के साथ ही लगे हुए हरियाणा में अगर थोड़ी सी प्रतिक्रिया हो तो अन्य राज्यों में उस प्रतिक्रिया को फैलने से रोकने के लिए सरकार बौखलाकर कड़ा कदम उठाना अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर प्रश्न यह है कि आखिर गुरुद्वारे कब तक हत्यारों के शरण स्थल बने रहेंगे और सरकार कब तक इसी अनिर्णय की स्थिति में पड़ी रहेगी ?

क्या संसार के किसी और देश में यह स्थिति होती तो वहाँ की सरकार भी इसी प्रकार कोई निर्णयात्मक कदम उठाने से कतराती रहती ? जहाँ तक हमें स्मरण है, अविभाजित पंजाब में जब सर सिकन्दर हयात खां मुख्यमन्त्री थे और यूनियननिस्ट पार्टी का शासन था, तब खाकसारों ने सरकार के विरोध में एक जलूस निकाला। पुलिस ने लाठी प्रहार से जलूस को तितर-बितर करने का प्रयत्न किया तो लोग मस्जिद में घुसकर पुलिस पर पथराव करने लगे। उस समय पुलिस ने शाही मस्जिद में घुसकर वहाँ से पथराव करने वालों को गिरफ्तार किया था। इस घटना के बाद मौलवी-मुल्लाओं ने शोर मचाया कि हमारी पाक इबादतगाह में घुसकर पुलिस ने उसे नापाक कर दिया है। तब सर सिकन्दर हयात खां ने बड़ी दिलेरी के साथ कहा था : इस सारे काण्ड में पुलिस के अधिकारियों का कोई दोष नहीं, मेरे आदेश पर ही पुलिस मस्जिद में घुसी थी। मैं सारे काण्ड की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता हूँ और साथ ही यह भी कहता हूँ कि मुख्यमन्त्री के नाते मेरा वह कदम सर्वथा उचित था और वैसा करके मैंने अपने कर्त्तव्य का ही पालन किया है।

इसके अलावा पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि मुसलमानों का सबसे पवित्र स्थान काबा है और उसमें भी सबसे पवित्र मस्जिद अल-अक्सा है। किन्तु जब कुछ उग्रवादी उस पर छा गये तो सऊदी अरब की सरकार ने उस मस्जिद के अन्दर घुसकर गोली चलाने में और उन

उग्रवादियों को गिरफ्तार करने में संकोच नहीं किया था। फिर, जिस प्रकार स्वर्ण मन्दिर में हथियारों का जखीरा जमा किया जा रहा है और हत्यारों को शरण दी जा रही है यदि उसी प्रकार भविष्य में किसी विदेशी ताकत के इशारे पर किसी मस्जिद से या किसी अन्य धार्मिक स्थान में यही सब होने लगे, तब सरकार क्या करेगी ?

इस समय सरकार की अनिर्णय की स्थिति, एक गलत उदाहरण उपस्थित कर रही है जिससे भविष्य में उसे ही ऐसे किसी भी काण्ड से निपटना मुश्किल हो जायेगा। धर्म-स्थान की पवित्रता आदर के योग्य है। परन्तु जब किसी धार्मिक स्थान में हत्यारों को शरण दी जाती है और वह हिंसा का केन्द्र बन जाता है, क्या तब भी वह धर्म स्थान बना रहता है ? ऐसी स्थिति में उसको धर्मस्थान कहना ठीक वैसा ही है जैसा कि हिंसा का प्रचार करने वाले और घृणा फैलाने वाले व्यक्ति को 'सन्त' कहना। यदि ऐसे व्यक्ति सन्त हैं तो असन्त किसे कहेंगे ? स्वर्ण मन्दिर में पुलिस के प्रवेश के सम्बन्ध में इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करना होगा।

यदि इस सबके बावजूद सरकार स्वर्ण मन्दिर में घुसने की अनुमति पुलिस को नहीं देती, तो दूसरा विकल्प केवल यही बच जाता है कि जब उग्रवादियों ने स्वर्ण मन्दिर को किले का रूप दिया है तो सरकार भी उसे किले के रूप में ही ग्रहण करे। जैसे किसी किले की घेराबन्दी की जाती है, वैसे ही स्वर्णमन्दिर की भी घेराबन्दी करे। इस घेराबन्दी में स्वर्ण मन्दिर के अन्दर बिजली, पानी और राशन की बन्दी भी शामिल हो और किसी भी व्यक्ति को हथियार लेकर न घुसने दिया जाय और न ही हथियार लेकर किसी व्यक्ति को उसमें से निकलने दिया जाय। इस प्रक्रिया में देर तो लग सकती है, परन्तु अन्ततः उग्रवादियों को आत्मसमर्पण के लिए विवश होना पड़ सकता है।

शायद सरकार सोचती है कि कभी-कभी समस्या को लटकाये

रखने से भी धीरे-धीरे उसका दंश कम हो जाता है और कुछ काल के पश्चात् वह ढीली पड़ जाती है। परन्तु पंजाब की समस्या के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं लगती। वहाँ अनिर्णय की स्थिति जितनी देर तक चलेगी उससे वह और विकराल रूप धारण करेगी। लटकाये रखने से इस समस्या का समाधान होने की संभवना नहीं है। 'कड़वी भेषज बिन पिये मिटे न तन की ताप।' देश के ताप को मिटाने के लिए दवाई की कड़वी घूंट खुद पीनी पड़ेगी, पिलानी भी पड़ेगी।

[मार्च २५, १९८४ ई०]

पच्चीसवां अनुच्छेद और भारत सरकार

अकालियों की सबसे ताजा माँग, जो अब से दो महीने पहले कभी कहीं सुनाई नहीं दी, अचानक संविधान के पच्चीसवें अनुच्छेद में संशोधन को लेकर कैसे उठ खड़ी हुई, यह समझना आसान नहीं। न तो आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव में इसका उल्लेख था और न ही पहले कभी किसी मंच से इस प्रकार की माँग की गई। अचानक अकाली दल ने अपने अगले चरण की घोषण करते हुए पहले-पहले २६ जनवरी को यह सवाल उठाया और उसके बाद २७ फरवरी से संविधान के जलाने की घोषणा कर दी। समाचारों से जहाँ तक पता लगता है, स्वयं श्री लोंगोवाल इस माँग के पक्ष में नहीं थे, श्री प्रकाश सिंह बादल, श्री गुरुचरण सिंह तोहड़ा भी इसके पक्ष में नहीं थे। पर उग्रवादियों द्वारा सरकार को परेशान करने का एक नया बहाना तलाश करने की दृष्टि से यह माँग रखी गयी और उग्रवादियों के बढ़ते हुए आतंक से घबरा कर अन्ततः श्री लोंगोवाल को अपने आन्दोलन के कार्यक्रम में उसको प्रमुख स्थान देना पड़ा। सिखों का कोई बुद्धिवादी समझदार वर्ग इस माँग से सहमत नहीं था और संविधान के जानकार सभी लोग इस माँग के अनौचित्य पर क्षुब्ध थे। परन्तु जब श्री लोंगोवाल ने २ अप्रैल से आजाद पंथ का आन्दोलन शुरू करने के नाम पर स्थान-स्थान पर संविधान के इस अनुच्छेद को जलाने के व्यापक कार्यक्रम की घोषणा की और भारी संख्या में गिरफ्तारियाँ देने के लिए सिख जनता का आह्वान किया, तब अचानक केन्द्रीय सरकार ने संविधान के इस अनुच्छेद को बदलने की अपनी रजामंदी की घोषणा कर दी। इससे सारा देश स्तब्ध रह गया।

आश्चर्य की बात यह है कि इस अनुच्छेद को जलाने के सम्बन्ध में ठीक ढंग से कोई सफाई आज तक पेश नहीं की गयी। स्वयं केन्द्रीय

गृह मंत्री लोकसभा में यह बात कह भी चुके हैं। फिर अकस्मात् सरकार के सामने ऐसी कौन सी मजबूरी आ गयी। पहले हमने समझा था कि शायद सरकार की ओर से अकाली नेताओं को यह एक अप्रैल की (अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग '१ अप्रैल' का अर्थ बखूबी जानते हैं।) सौगात पेश की गयी है। परन्तु जब इस सौगात के जवाब में श्री लोंगोवाल ने २ अप्रैल से शुरू होने वाला अपने आजाद पंथ का आन्दोलन वापिस ले लिया तब लगा कि शायद दोनों ओर अन्दर ही अन्दर कोई बहुत गहरी आपसी समझदारी पैदा हुई है। क्या यह नरम दलीय अकाली नेता लोंगोवाल को खुश करने के लिए, आम जनता में उनकी गुड्डी चढ़ाने के लिए और अन्ततः भावी इलेक्शन में सत्ता प्राप्ति के निमित्त इंका के साथ तालमेल बिठाने के लिए कोई साजिश तो नहीं है?

इस साजिश की आशंका इसलिए भी होती है कि इंका-राजनीति के चतुर खिलाड़ी जैसे-जैसे खेल खेलते रहे हैं वे आम आदमी की समझ से परे हैं। पहले कभी इन्हीं इंका खिलाड़ियों ने दल खालसा के विरोध में भिंडरांवाले को उकसाया था। फिर हरियाणा में पंजाब की हिंसा की जो हिंसात्मक प्रतिक्रिया हुई उसमें भी इंका खिलाड़ियों का हाथ बताया गया। अभी हाल में ही हरियाणा की विधान सभा के उपाध्यक्ष श्री वेदपाल पर हमला करने के आरोप में जो लोग पकड़े गये उनमें भी इंका का एक सरगर्म कार्यकर्त्ता शामिल है। और पंजाब में आम लोगों की यह धारणा है कि उग्रवादी चाहे जिसको गोली मारकर भाग जाते हैं या चाहे जब किसी बैंक को लूट लेते हैं पर वे कहीं पकड़ में नहीं आते, इसके पीछे भी कुछ इंका खिलाड़ियों का हाथ है। लोग पूछते हैं कि सरकार ने जिस तरह हरियाणा में उपद्रवियों को देखते ही गोली मारने का आदेश दिया था, वैसा ही आदेश पंजाब में क्यों नहीं दिया गया। इसने लोगों को शंका होती है कि कहीं, किसी मसलहत से, इंका के खिलाड़ी इन उग्रवादियों को प्रश्रय देने में लगे हुए हैं।

हम सरकार की नीयत पर शक नहीं करते और यह भी जानते हैं कि सरकार के सामने अपनी प्रशासनिक राजनैतिक सुविधाओं का भी प्रश्न होता है। अगर सरकार की यह सुविधा गलत उदाहरण पेश करे या जनता को यह आभास होने दे कि धमकी के आगे घुटने टेक कर उसने गलत माँग को स्वीकार कर लिया, तो उसका व्यापक असर सरकार की विश्वसनीयता पर पड़ने की संभावना है। आखिर एक राज्य में अपनी प्रशासनिक सुविधा की खातिर सरकार सारे देश की जनता के सामने जवाब देने से बच नहीं सकती।

पच्चीसवें अनुच्छेद की जिस टिप्पणी पर अकालियों को आपत्ति है उसमें सिर्फ इतना ही लिखा है कि इस धारा पर अमल करने में हिन्दुओं में जैन, बौद्ध और सिख भी शामिल समझे जायेंगे। स्वयं संविधानवेत्ता यह बता चुके हैं कि पच्चीसवाँ अनुच्छेद अलग पंथ के रूप में सिखों के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता, बल्कि स्वीकार करता है। यदि यह अनुच्छेद नहीं होता तो संविधान में सिखों को अलग पंथ के रूप में मान्यता देने वाला कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। यदि इस अनुच्छेद को बदल दिया गया तो स्वयं सिख समस्त गुरुद्वारों के लिए एक कानून बनाने की जो माँग करते रहे हैं उस माँग का आधार समाप्त हो जायेगा। इसके अलावा, अकाली दल की समस्त राजनैतिक शक्ति का मुख्य स्रोत वह अपार धन है जो गुरुद्वारों में भेंट के रूप में चढ़ाया जाता है। इन गुरुद्वारों में आए दिन झगड़े होते रहते हैं और सिखों के विभिन्न गुटों में सिर फुटौवल होती है। उस समय वे पुलिस का संरक्षण माँगते हैं। परन्तु तब न तो पुलिस उन्हें संरक्षण दे सकेगी और न ही प्रबन्धक कमेटियों को कोई कानूनी संरक्षण प्राप्त हो सकेगा। सम्प्रदाय-निरपेक्ष सरकार को क्या पड़ी है कि ऐसे मामलों में वह हस्तक्षेप करे और सिखों का यह आरोप भी सुने कि हमारे धार्मिक मामलों में दखल दिया गया है। इसके अलावा इसी अनुच्छेद में सिखों को अलग से कृपाण रखने की अनुमति भी दी गयी है। अगर अनुच्छेद का यह

हिस्सा कट गया तो संविधान में से उनको कृपाण रखने की भी अनुमति समाप्त हो जायेगी। इस तरह यह स्पष्ट है कि संविधान के इस अनुच्छेद को बदलने की बात स्वयं सिखों के हितों के विरुद्ध है। पर जहाँ अक्ल का ही अकाल हो (क्या "अकाली" शब्द इसी अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है ?), वहाँ कोई क्या समझाये। किंवदंती के अनुसार यदि महाकवि कालिदास अपने बचपन के दिनों में पेड़ की जिस डाली पर बैठे थे उसी डाली को काट रहे थे, तो आज के इन 'महान अक्लमंद' (यहाँ भी पाठक 'मंद' का कोई और अर्थ न लगायें !) अकालियों को वैसा ही आत्महननकारी कदम उठाने से कौन रोक सकता है ?

सरकार ने बार-बार बातचीत के द्वारा समस्या का समाधान करने के लिए अकालियों का आह्वान किया है पर हमेशा अकाली अपना पैंतरा बदलते रहे हैं। ज्यों-ज्यों सरकार झुकती गयी, त्यों-त्यों माँगें बढ़ती गईं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह पच्चीसवें अनुच्छेद को बदलने की ताजा माँग थी। उसके बाद अब कौन सी नई माँग खड़ी हो जायेगी, यह कोई नहीं कह सकता। अकाली नेताओं की कथनी और करनी में निरन्तर भेद रहा है। वे अपने वक्तव्य भी लगातार बदलते रहे हैं। पिछले दिनों त्रिपक्षीय बातचीत को तोड़कर स्वयं अकाली ही वापिस गये थे। उस त्रिपक्षीय वार्ता में विरोधी दलों के जो नेता शामिल हुए थे उनके सामने भी यह स्पष्ट हो गया था कि अकालियों की माँगें किसी तर्क पर आधारित नहीं है। इसलिए विपक्षी दलों ने भी इससे पहले अपने द्वारा किये गये अकालियों के समर्थन की गलती को महसूस किया और वे एकदम तटस्थ हो गये। फिर अब सरकार को ऐसा कौन सा नया संकेत मिला है कि अकाली बातचीत के माध्यम से समाधान करना चाहते हैं, इसलिए उनके सामने यह विनम्र प्रणिपात की-सी मुद्रा अपनायी जाय ?

सरकार के इस रवैये का उग्रवादियों पर क्या असर पड़ा है, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इधर सरकार की घोषणा हुई, उधर

उसी दिन उग्रवादियों ने पंजाब में फिर पाँच आदमियों की हत्या कर दी। उग्रवादियों के इस रवैये के विरुद्ध सभी समझदार देशभक्त सिख और सारे देश की जनता क्षुब्ध है और उनसे शक्ति से और सख्ती से निपटने का इन्तजार कर रही है। पर शायद सरकार अभी दुविधा में है। वह एक बार और साम्प्रदायिकता के आगे घुटने टेक कर भविष्य के लिए काँटे बोने का आयोजन कर रही है। हमें आशा करनी चाहिए कि संविधान-वेत्ता सरकार को सही राय देंगे और अकाली बन्धुओं को भी परमात्मा सद्बुद्धि प्रदान करेगा।

[अप्रैल ८, १९८४ ई०]

अनतुले आदिक और अंतुले

महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री श्री अब्दुल रहमान अन्तुले और अभी हाल तक राज्य के उपमुख्यमंत्री पद को सुशोभित करने वाले श्री रामराव आदिक ने अपने आचरण से राज्य की राजनीति रूपी चाय की प्याली में जैसा तूफान खड़ा कर दिया है उससे देश के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का मन खट्टा हो गया है। हमको अपने देश की न्याय व्यवस्था पर और प्रशासन के विवेक पर जितना विश्वास था, उस विश्वास को गहरी चोट लगी है। इंका के नेता अपने आचरण से जनता के मन में निरन्तर शंका पैदा करते चले जा रहे हैं। राजनीति के खेल ने इन दोनों व्यक्तियों को एक्रदम जिस तरह प्रशासन के शिखर पर पहुँचा दिया था, उससे लगता है कि कांग्रेस कलचर में अब योग्यता के वे मापदण्ड नहीं रहे, जो अभी तक उसके इतिहास में प्राय: पाये जाते रहे है। अब सबसे बड़ा गुण तथाकथित वफादारी रह गया है और बाकी सब गुण ओछे पड़ गये हैं।

श्री अन्तुले ने 'इन्दिरा प्रतिभा प्रतिष्ठान' के नाम से जिस तरह ट्रस्ट बनाकर करोड़ों रुपया ज़मा करने में अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया था उसको अन्तिम दम तक कांग्रेस का आला कमान छिपाता रहा और प्रश्रय देता रहा। लेकिन जब पानी सिर से ऊपर गुजर गया तब अन्त में अन्तुले को मुख्यमंत्री पद से हटाया गया। इस समय उन पर न्यायालय में मुकदमा चल रहा है। पिछले दिनों कांग्रेस के महासचिव श्री राजीव गाँधी ने संकेत दिया था कि अन्तुले के मुकदमे में कांग्रेस की ओर से सब तरह की सहायता दी जायेगी। उसका रहस्य उस समय तो नहीं खुला था, पर अब कुछ-कुछ खुलने लगा है। आखिर कांग्रेस अन्तुले की किस प्रकार की सहायता करना चाहती है। अन्तुले स्वयं बैरिस्टर हैं, क्या उनका केस लड़ने वाले वकीलों की फीस में

कांग्रेस सहायता करना चाहती है ? इस प्रकार की आर्थिक सहायता की कोई तुक नहीं है। राज्य सरकार ने अन्तुले मंत्रिमण्डल में इन्दिरा प्रतिभा प्रतिष्ठान का ट्रस्ट बनाने का फैसला जिस बैठक में हुआ था उस बैठक की कार्यवाही न्यायाधीश द्वारा माँगे जाने पर भी अदालत में पेश करने से इन्कार कर दिया है और उसके लिए मंत्रियों द्वारा गोपनीयता की शपथ का बहाना बनाया है। इसके अलावा अभी हाल में श्री पद्माकर गणेश गवई को दिल्ली का उपराज्यपाल बनाने के पीछे भी रहस्य यही है कि अदालत में उनको गवाह के रूप में तलब न किया जा सके। क्योंकि अन्तुले के समय श्री गवई महाराष्ट्र के मुख्यसचिव थे और इस पद पर रहते हुए उन्होंने अन्तुले के साथ-साथ ट्रस्ट के लिए पैसा जुगाड़ने में अपनी प्रतिभा का भी बहुमूल्य योग दिया था। अब न्यायाधीश के सामने गवाहों की जो लम्बी सूची पेश की गई है उसमें श्री गवई का नाम भी अंकित है। अब उपराज्यपाल पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण श्री गवई के नाम गिरफ्तारी का वारन्ट तो नहीं आ सकता, केवल समन आ सकता है और समन को उन्हें ठुकराने का अधिकार है।

अब श्री अन्तुले ने अपनी प्रतिभा से प्रसूत 'उस इन्दिरा प्रतिभा प्रतिष्ठान' में से भले ही 'इन्दिरा' का शब्द निकाल दिया हो, परन्तु उनकी वफादारी में कोई फर्क नहीं पड़ा है। इसका कारण यह बताया जाता है कि श्री अन्तुले के पास बड़े लोगों के विरुद्ध रहस्योद्घाटन करने का काफी कुछ मसाला है, परन्तु वफादारी के कारण ही वे उस विषय में अपनी जुबान नहीं खोल रहे।

रहे आदिक साहब। अपने नाम में लगे "राम" शब्द को कलंलित करते हुए श्री आदिक ने तो अपने आचरण से जैसे राजनीति को सुरा और सुन्दरी का पर्यायवाची ही बना दिया है। विदेश यात्रा पर जाते हुए वायुयान में विमान परिचारिकाओं से और हनोवर पहुँचकर वहाँ होटल की महिला-कर्मचारियों से जैसा व्यवहार उन्होंने किया है उससे

भारतीय राजनीतिज्ञों की छवि तो धूमिल हुई ही, भारत की आदर्श-वादी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा को भी गहरा आघात लगात लगा। पहले आदिक साहब यह कहते रहे कि मेरे विरुद्ध राजनीतिक द्वेष के कारण बदनाम करने के लिए ये रोमानी कथाएँ गढ़ी जा रही हैं। परन्तु जब यहाँ भी पानी सिर से उतर गया तो उनको उपमुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र देने को विवश होना पड़ा। इंका की कलचर का चमत्कार देखिए। आदिक के समर्थन में चौदह मंत्रियों ने मुख्यमंत्री के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए बयान दिया, परन्तु आदिक के इस्तीफे के बाद जब उनके समर्थन का धरातल ही समाप्त हो गया, तब महाराष्ट्र के मुख्य-मंत्री श्री बसन्त दादा पाटिल ने कांग्रेस हाई कमान के सामने यह गुहार की कि इन चौदह व्यक्तियों को कांग्रेस से निकाला जाय। परन्तु कांग्रेस के आला कमान ने उसकी अनुमति नहीं दी। तब अन्तुले और आदिक के समर्थकों ने फिर यह धमकी देनी शुरू की कि बसन्त दादा और उनके साथी तन्य मंत्रियों के विरुद्ध हमारे पास भी कहने को बहुत कुछ है। श्री आदिक ने उपमुख्यमंत्री पद से भले ही इस्तीफा दे दिया हो, पर जिस तरह कांग्रेस ने विधान परिषद् के लिए उनको खड़ा करके विजयी बनवा दिया है, उससे इंका की नियत में शंका कम नहीं होती अर्थात् उनकी वफादारी अब भी बरकरार है।

जब अन्तुले मुख्यमंत्री पद से हटाए गए थे और बसन्त दादा दिल्ली में कांग्रेस के महासचिव पद को सुशोभित कर रहे थे, तब एक बार किसी प्रसंग में हमारी उनसे भेंट हुई थी। हमने दादा से कहा था—"दादा! आपने तो कमाल कर दिया। दिल्ली में बैठे-बैठे ही कुछ ऐसा चक्र चलाया कि आखिर अन्तुले को हटना पड़ा। जानकार लोगों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि यह चक्र आपका ही घुमाया हुआ था।" दादा ने कुछ कहने के बजाय केवल एक मन्द स्मित से ही उसका भरपूर उत्तर दे दिया था। फिर हमने पूछा था—"दादा! पर, अन्तुले के बाद जो भोंसले आए हैं, ये तो बिल्कुल ऐसे मिट्टी के माधो लगते हैं, जैसे

उनकी अपनी कोई रीढ़ की हड्डी ही नहीं है। क्या यह महाराष्ट्र जैसे प्रगतिशील राज्य की बागडोर ढंग से सम्भाल सकेंगे ?" तब बसन्त दादा गे वहुत संक्षिप्त-सा उत्तर दिया था—"परिस्थितियाँ सब उनको सीधा कर देंगी।" अब महाराष्ट्र की गद्दी पर न अन्तुले रहे, न भोंसले। स्वयं बसन्त दादा पाटिल महाराष्ट्र की गद्दी पर आसीन हैं। कांग्रेस आला कमान को महाराष्ट्र के प्रशासन की बागडोर बसन्त दादा पाटिल के हाथ में सौंपनी पड़ी, वह केवल लाचारी ही थी, क्योंकि आला कमान को उनकी वफादारी पर उतना विश्वास नहीं था। इसीलिए उनको नियंत्रण में रखने के लिए श्री रामराव आदिक को नया पद तैयार करके उपमुख्यमंत्री बनाया गया। पर अब परिस्थितियों ने भले ही आदिक इस्तीफा देने को बाधित किपा हो, परन्तु वफादारों की सूची में से किसी को उनका नाम काटने की हिम्मत नहीं हो सकती। इस वफादारी के पहलू को लेकर ही महाराष्ट्र के विधायकों में इस समय जैसी खींचा-तानी चल रही है उसका जायजा लेने के लिए केन्द्र से श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को बम्बई भेजा गया। यह सारी जोड़-तोड़ इसलिए हो रही है कि आने वाले चुनावों तक किसी तरह विघटन के कगार पर पहुँची इंका को बचाया जा सके और किसी तरह चुनाव के भवसागर में से इंका का पोत अपना विजय-केतु फहराते हुए किनारे लग सके।

आजकल की सारी राजनीति जिस तरह चुनावों के हिसाब से खेली जा रही है और नये समीकरण बिठाए जा रहे हैं; उसमें अन्तुले और आदिक जैसे व्यक्ति न्याय की तुला पर कितने ही अनतुले रहे हों, परन्तु वे कांग्रेस की तुला पर ठीक-ठीक तुले हुए हैं और उनकी उपयोगिता लगातार बरकरार है। लोग तो यह भी कहते हैं कि पंजाब की समस्या को हल न करने का मुख्य कारण भी यही है कि इंका के नेता उसे चुनावों के मध्य तक लटकाये रखना चाहते हैं। नहीं तो जिस दुर्गा ने बंगलादेश को आजाद कराके ९० हजार पाकिस्तानी सैनिकों को दाँतों तिनका दबाकर आत्म-समर्पण के लिए बाध्य किया था, क्या वही दुर्गा

स्वर्ण मन्दिर में छिपे कुछ असुरों पर नियंत्रण नहीं कर सकती ? क्या पाकिस्तान से तस्करी से आने वाले हथियारों पर और बनावटी निहंग बनकर प्रवेश करने वाले घुसपैठियों पर नियंत्रण करना उसकी शक्ति के बाहर है ? क्या दुर्गा के पास गुप्तचर एजेंसियों और अपनी पुलिस की निष्क्रियता की शिकायत करना ही बाकी रह गया है ?

हम समझते हैं कि राजनीतिक मसलहत की खातिर जब तक आदिक और अन्तुले जैसे व्यक्तियों को प्रश्रय दिया जाता रहेगा, तब तक इंका का भविष्य भले ही उज्वल हो, लेकिन देश का भविष्य उज्वल नहीं है ।

[मई ६, १९८४ ई०]

लोंगोवाल की अग्नि-परीक्षा

मोगा में सीमा सुरक्षा बल ने गुरुद्वारों की नाकाबन्दी करके जिसे दृढ़ता का परिचय दिया उससे एक बात स्पष्ट हो गयी कि भिंडरावाले के प्रभाव से प्रभावित इलाके में भी यदि भारत सरकार कुछ सख्ती से पेश आवे तो उसे सफलता मिल सकती है। पुलिस द्वारा मोगा में १६ उग्रवादियों को गिरफ्तार करने और गुरुद्वारे के अन्दर से हथियार बरामद करने समाचार का यद्यपि लोंगोवाल तथा अन्य व्यक्तियों ने प्रतिवाद किया है, परन्तु ऐसा लगता है कि वह केवल अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए है। सरकार या अकाली नेताओं में से कोई भी यह दिखाना नहीं चाहता कि उसने दूसरे पक्ष की धमकी के आगे हार मान ली। इस प्रकार परस्पर विरोधी बयानों से जनता के मन में कुहासा तो पैदा किया जा सकता है, पर शायद सत्य को छिपाया नहीं जा सकता। अकाली नेता बार-बार जिस तरह अपने बयान बदलते रहे हैं उससे संभावना यही है कि वे सिख अवाम के मन में अपनी छवि को सुधारने के लिए ही ऐसा बयान दे रहे हैं।

जब हत्यारों के गिरोह गुरुद्वारों में शरण ले रहे हैं, वहाँ भारी तादाद में हथियार जमा करके आतंकवादियों को वहाँ से हथियार सप्लाई किए जाते हैं, तब गुरुद्वारों की पवित्रता का बखान महज एक बहाना मात्र है। हथियारों और तस्करों को शरण देने से गुरुद्वारों की पवित्रता भंग नहीं होती, केवल पुलिस के प्रवेश से गुरुद्वारों की पवित्रता भंग होती है, यह बात किसी भी समझदार आदमी के गले उतरने वाली नहीं। हमने सुझाव दिया था कि गुरुद्वारों में पुलिस यदि नहीं घुसना चाहती तो बेशक न घुसे, परन्तु उनकी इस तरह से नाकाबन्दी तो की ही जा सकती है कि अन्दर से बाहर आने वाले और बाहर से अन्दर जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति की तलाशी ली जाय और जिन गुरुद्वारों में

हत्यारों ने शरण ली है उनका तब तक बिजली, पानी, और राशन आदि बन्द कर दिया जाय जब तक गुरुद्वारों के अधिकारी उन हत्यारों को पुलिस के हवाले नहीं देते। सीमा सुरक्षा बल ने मोगा के गुरुद्वारों की नाकाबन्दी करने की नीति अपनायी और सोलह उग्रवादियों को गिरफ्तार करने पर ही यह नाकाबन्दी हटायी, इससे यह स्पष्ट हो गया कि अन्य गुरुद्वारों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही दृढ़ता अपनायी जाय तो सरकार को सफलता मिल सकती है।

जब से भिंडरावाले और लोंगोवाल के गुट में आपसी तनाव बढ़ा तब से यह स्पष्ट हो गया है कि धीरे-धीरे सिख युवकों पर भिंडरावाले हावी होते जा रहे हैं और अब तक जो लोंगोवाल के समर्थक बने रहे वे भी उनका साथ छोड़ते जा रहे हैं। हालांकि अभी तक समझदार, बुर्जुग, पढ़े-लिखे सिखों का बहुमत लोंगोवाल के साथ है, परन्तु धीरे-धीरे उनके नीचे से जमीन खिसकती जा रही है। लोंगोवाल नरम दलीय नेता माने जाते हैं और आम विश्वास यह है कि सरकार से बातचीत करने पर लोंगोवाल शायद किसी बुद्धि-संगत हल पर सहमत हो सकते हैं। परन्तु जिस तरह सरकार की ओर से पंजाब की समस्या को लटकाया जा रहा है और लोंगोवाल के नीचे से तेजी से जमीन खिसकती जा रही है, उससे स्वयं लोंगोवाल के सामने बहुत बड़ी अग्नि-परीक्षा की घड़ी उपस्थित हो गयी है। अगर लोंगोवाल इस अग्नि-परीक्षा में विफल हो गए तो न केवल पंजाब के सामने, बल्कि देश के सामने सिवाय बरबादी के और कोई विकल्प नहीं बचेगा।

यह हम इसलिए कह रहे हैं कि भिंडरावाले तर्क के बजाय बन्दूक की भाषा जानते हैं। वे हिन्दुओं या निरंकारियों के प्रति निरन्तर द्वेष फैलाने का अभियान चला रहे। स्वयं कायर शिरोमणि होकर भी स्टेनगन धारी पहरेदारों के कवच की ओट में वीर शिरोमणि का रोल अदा कर रहे हैं। यह सब उनको किसी से भी बातचीत के लायक नहीं छोड़ता। परन्तु इस जटिल परिस्थिति में यह बात भी लगातार

उभर कर सामने आ रही है कि भिंडरावाले कितने ही अयुक्तियुक्त क्यों न हों, परन्तु कहीं न कहीं इंका का छिपा हुआ वरदहस्त उनको प्राप्त है। राजनीति के सभी अध्येता जानते हैं कि भिंडरावाले इंका नेताओं की उपज हैं और उन्हीं नेताओं की मेहरबानी से वे अब भस्मासुर का रूप धारण कर चुके हैं। अन्यथा जिस तरह युगराजप्रवर श्री राजीव गाँधी ने उनको "धार्मिक नेता" का खिताब दिया है, वह खिताब न दिया जाता। भिंडरावाले को बढ़ाने में, पहले मुख्यमंत्री के रूप में और बाद में केन्द्रीय गृह मंत्री के रूप में, ज्ञानी जैल सिंह का भी कम हाथ नहीं है। यह बात लोगों की आम जुबान पर है। भाजपा के नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी सार्वजनिक रूप से यह आरोप लगा चुके हैं कि भिंडरावाले के भेजे हुए एक उग्रवादी नेता ने दिल्ली में आकर स्वयं प्रधान मन्त्री से भेंट की है। लोग तो यह भी कहते हैं कि राष्ट्रपति के प्रिय पात्र श्री प्रीतम सिंह भिंडर को मुख्य पुलिस आयुक्त बनाकर पंजाब में केवल भेजा ही इसलिए गया है कि भिंडरावाले पर कोई आँच न आने पाये। सुना है, भिंडर और भिंडरावाले दोनों एक ही गाँव के हैं और दोनों को एक दूसरे की ओर से अभयदान मिला हुआ है।

जब इंका के राजनीतिक खिलाड़ी अंग्रेजों द्वारा चलाई गई "फूट डालो और राज्य करो" की नीति अपनाते हुए स्वयं सिखों में ही फूट डालने के लिए भिंडरावाले को बढ़ावा दे रहे हों, तब लोंगोवाल का सिंहासन चिरकाल तक सुरक्षित नहीं रह सकता। इस समय लोंगोवाल के सामने केवल अकाली दल की एकता को ही नहीं, बल्कि देश की एकता को भी सुरक्षित रखने का सवाल है। लोंगोवाल जितने समझदार हैं, उतने ही आत्मबल से हीन भी हैं। हमारा तो विश्वास है कि इस समय देश को और पंजाब को यदि कोई बचा सकता सकता है, तो केवल लोंगोवाल बचा सकते हैं। यह कहकर समस्त भारतीय जनता का कितना विश्वास हम श्री लोंगोवाल में प्रकट कर रहे हैं, यह

हम जानते हैं। कुछ लोग हमारे सुझाव का विरोध भी कर सकते हैं, परन्तु हमको अपने अन्तःकरण में ईमानदारी से पंजाब की समस्या का इस समय जो हल नजर आता है उसका उल्लेख करना हमारा कर्तव्य है।

यह हल क्या है ?

हम जिस लोंगोवाल पर समस्त भारतीय जनता का विश्वास टिकाना चाहते हैं वह आत्मबल से हीन लोंगोवाल नहीं, बल्कि आत्म-बल की अभिनव ऊर्जा से अनुप्राणित वह लोंगोवाल होगा जिसकी समस्त भारतीय जनता मन-मन्दिर में पूजा करेगी। अब न गांधी रहे, न विनोवा रहे। अन्य छुटभइयों से छिट-पुट राजनीतिक खेलों के सिवाय किसी महान आदर्श की उपासना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हम आदरणीय लोंगोवाल जी से निवेदन करना चाहते हैं कि स्वयं अपने अस्तित्व, पंजाब के अस्तित्व और देश के अस्तित्व को बचाने के लिए खुलकर मैदान में आइए। आप भिंडरावाले की और आतंकवादियों द्वारा की जा रही हिंसा की साफ-साफ शब्दों में निंदा करें। यदि आपमें कुछ देशभक्ति का माद्दा बाकी है तो भिंडरावाले को और उसके हिंसावादी साथियों को गुरुद्वारों से निकालकर कूका नाम-धारी सिखों की तरह आत्मसमर्पण करके अपनी वीरता का परिचय देने के लिए प्रेरित कीजिए। यदि आप इस समय खुलकर भिंडरावाले का विरोध नहीं करेंगे तो आपका सिंहासन तो जायेगा ही अकाली दल की एकता भी भंग होगी और पंजाब गृहयुद्ध का अखाड़ा बन जाएगा। सबसे बड़ी बात जो होगी वह यह कि इंका का खेल कामयाब हो जाएगा। हम यह भी जानते हैं कि जिस दिन आप इस प्रकार खुलकर अपनी आत्मा की आवाज को लेकर सामने आयेंगे उस दिन यह नितांत सम्भव है कि भिंडरावाले द्वारा तैयार की जा रही 'हिट लिस्ट' में सबसे ऊपर आपका नाम हो। यदि तब आप हिन्दू-सिख एकता के लिए बलिदान भी हो जायें, तो हमें लगता है कि देशवाशियों की दृष्टि

में आप महात्मा गाँधी से कम पूज्य नहीं होंगे। यही अवसर है जब किसी महान उद्देश्य के लिये अपना जीवन बलिदान करने की सार्थकता होती है। यूँ तो हरेक व्यक्ति को एक न एक दिन मरना ही है परन्तु किसी महान उद्देश्य के लिए यदि कोई अपना व्यक्ति भी अपने जीवन का उत्सर्ग करता है तो वह देवताओं द्वारा भी पूजित होता है।

यदि आप यह घोषणा कर दें कि जब तक भिंडरावाले और उनके साथी गुरुद्वारों से नहीं निकलेंगे और जब तक उग्रवादियों द्वारा की जा रही हत्या नहीं रुकेगी, तब तक मैं आमरण अनशन करता हूँ, तो इस घोषणा से यह सारा माहौल आप बदल सकते हैं। ऐसी घोषणा के लिए जितना बड़ा आत्मिकबल चाहिए उतना आत्मबल आप में है?

[मई १३, १९८४ ई०]

एक टेक रघुनाथ

१० मई को अकाल तख्त के भूतपूर्व मुख्यमंत्री ज्ञानी प्रताप सिंह की जिस प्रकार उनके शिष्यों ने ही विश्वासघात करके नृशंस हत्या की है और जिस प्रकार उसके एक दिन बाद ही 'हिन्द समाचार पत्र समूह' के स्वामी तथा प्रसद्धि पत्रकार श्री रमेश चन्द्र की क्रूरतापूर्ण ढंग से हत्या की है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि उग्रवादियों में विवेक नाम की कोई चीज नहीं रही। वैसे तो शुरू से ही इन उग्रवादियों के नेता ने और उनके अनुयायियों ने कभी विवेक का प्रदर्शन नहीं किया, परन्तु अब यह भी स्पष्ट हो गया कि भिंडरांवाले को अपने श्रीमुख से "धार्मिक नेता" का खिताब देने वाले कितने भ्रम में हैं।

गत सप्ताह मोगा के संबंध में जो कुछ हमने लिखा वह सब झूठा पड़ गया। सरकार की ओर से जिस जोर से १६ उग्रवादियों को गिरफ्तार करने के बाद ही मोगा के गुरुद्वारों की नाकाबंदी समाप्त करने की घोषणा की गई थी, उसकी भी कलई खुल गई। सरकार की दृढ़ता के सभी अखबार वालों ने जो गीत गाये थे और इस अन्धी गली में प्रकाश की एक किरण देखी थी, वह सब मिथ्या हो गया। स्वयं गृह-मंत्री ने लोकसभा में अपनी पहले की गलत बयानी स्वीकार कर ली और यह स्पष्ट हो गया कि मोगा के काण्ड में सरकार ने कोई तीर मारने के बजाय केवल अपनी पशेमानी का ही परिचय दिया है। इसमें दोष सीमा सुरक्षाबल का नहीं, परन्तु उन सरकारी अधिकारियों का है जो पंजाब में कहीं भी सख्त कार्यवाही करने से कतराते हैं। मोगा कांड से सरकार की रही-सही विश्वसनीयता भी जाती रही।

इस समय स्वर्ण मन्दिर जिस प्रकार तस्करों, बलात्कारियों और हत्यारों का अड्डा बना हुआ है उसका पूरा विवरण बाहर नहीं आ

पाता। परन्तु कभी-कभी जो समाचार छनकर बाहर निकल आते हैं वे किसी भी समझदार आदमी को बिना चौंकाए नहीं रह सकते। पिछले दिनों श्री भिंडरांवाले के अत्यन्त विश्वसनीय सुरेन्द्र सिंह सोढ़ी की हत्या के बाद बलजीत कौर यह चिल्लाती हुई स्वर्ण मन्दिर में दौड़ी गई थी कि मैंने अपने पति की हत्या का और अपनी बेइज्जती का बदला ले लिया। उस तथाकथित धार्मिक नेता के लाड़ले सोढी ने इस महिला के साथ बलात्कार किया था, और उसके पति की हत्या की थी। जब उस महिला ने खुले आम यह स्वीकार किया कि मैंने अपने पति की हत्या का और अपनी बेइज्जती का बदला ले लिया है तब उसके अगले दिन उस महिला का आग में भुना हुआ शरीर स्वर्ण मन्दिर की गन्दी नाली में पड़ा मिला। इस महिला का एक साथी था छिन्ना, उसके शरीर के सात टुकड़े स्वर्ण मन्दिर में ही किए गए।

इसके अलावा यह भी पता लगा कि एक धनी बुजुर्ग सिख, जो चिरकाल से अमेरिका में बसा हुआ है, अपनी लड़की के साथ तीर्थ यात्रा के लिए अमृतसर आया और जीवन में पहली बार उसकी लड़की ने सिखों के सर्वप्रमुख तीर्थ स्थान का दर्शन किया। मन्दिर का दर्शन करके वह भाव-विभोर हो गई। परन्तु उसकी यह प्रसन्नता अधिक देर तक नहीं टिकी क्योंकि चार उग्रवादियों ने इस पवित्र धर्म मन्दिर के अन्दर ही उसको बलात्कार का शिकार बनाया। दुःखी पिता लोंगोवाल के पास शिकायत करने गया। लोंगोवाल ने अपनी विवशता प्रकट करते हुए उस बुजुर्ग सिख को भिंडरांवाले के पास जाने को कहा। बुजुर्ग भिंडरांवाले से मिले। भिंडरांवाले ने उसकी बात ध्यान से सुनी और उसके बाद उसको एक पिस्तौल पकड़ाने लगे। धार्मिक नेता द्वारा किस प्रकार धर्म की रक्षा की जाती है, यह इसका उदाहरण था। परन्तु उस बुजुर्ग ने पिस्तौल को बिना हाथ लगाए घृणा के साथ स्वर्ण मन्दिर को छोड़ दिया और यह कसम खाई कि आगे से कभी यहाँ नहीं आऊँगा।

पिछले दिनों बब्बर खालसा ने स्वर्ण मन्दिर में ही एक पर्चा बाँटा

था, जिसमें सन्त भिंडरांवाले को तस्करों, पियक्कड़ों और बलात्कारियों का संरक्षण बताया गया था। और साथ ही यह भी कहा गया था कि एक आदमी की सनक को पूरा करने के लिये पंजाब के बाहर रहने वाले पचास लाख सिखों को कुर्बान नहीं किया जा सकता। परन्तु उसके बाद भिंडरांवाले के लोगों ने ज्ञानी प्रताप सिंह और श्री रमेश चन्द्र की हत्या करके यह सिद्ध कर दिया है कि अब पंजाब में किसी ऐसे व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं है जो भिंडरांवाले की तनिक भी आलोचना करने की हिम्मत करे। चारों तरफ आतंक और अन्धकार से घिरे वातावरण में प्रसिद्ध सिख नेता जीवन सिंह उमरानांगल की ओजस्वी वाणी ने सचमुच एक प्रकाश की किरण प्रदान की है। उन्होंने कहा है कि १५ जून तक यदि स्वर्ण मन्दिर के अन्दर घुसे अपराधियों ने आत्मसमर्पण नहीं किया तो वह १६ जून को अपने आत्मदाह की तारीख की घोषणा करेंगे।

पंजाब की समस्या से निपटने के इस समय दो ही रास्ते हैं। एक रास्ता अहिंसा का है और दूसरा हिंसा का। पहले अहिंसा की बात करें। हमने गत सप्ताह सुझाव दिया था कि गुरुद्वारों से निकलकर सब अपराधी जब तक आत्म-समर्पण नहीं करते और पंजाब में उग्रवादियों द्वारा हत्याएँ बन्द नहीं होतीं, तब तक श्री लोंगोवाल को आमरण अनशन करना चाहिये। अब उस सुझाव में हम इतना और जोड़ते हैं कि केवल श्री लोंगोवाल नहीं, बल्कि उनके साथ उमरानांगल, प्रकाश सिंह बादल, गुरु चरण सिंह तोहड़ा और अकाल तख्त के मुख्य ग्रन्थी को भी आमरण अनशन के अभियान में शामिल होना चाहिए। हमने यह भी लिखा था कि केवल हिन्दू सिख एकता के लिए या पंजाब को बचाने के लिए ही नहीं, परन्तु स्वयं लोंगोवाल जैसे उदारवादी लोगों के अपने अस्तित्व के लिए भी यह कदम अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग ज्ञानी प्रताप सिंह जैसे धर्मात्मा, विद्वान् और सचमुच सन्त का जीवन व्यतीत करने वाले बुजुर्ग व्यक्ति की हत्या कर सकते हैं उनके लिए

लोंगोवाल या बादल का सफाया करना कोई बड़ी बात नहीं है। क्या बादल का यह अपराध कम है कि उन्होंने अपनी लड़की की शादी प्रताप सिंह कैरों के सुपुत्र सुरेन्द्र सिंह कैरों के लड़के के साथ की है, जो इस समय पंजाब में इंका का प्रबल समर्थक है ?

यदि अकाली दल के ये समझदार नेता इतने ऊँचे आत्मिक बल का परिचय नहीं दे सकते, तो अहिंसा के मार्ग से पंजाब की समस्या के सुलझने की आशा छोड़ देनी चाहिये। तब केवल हिंसा का रास्ता बचता है। यदि सरकार के माध्यम से इस समस्या को सुलझाना हो तो उसके पास शस्त्रबल के सिवाय और कोई बल नहीं है। छोटे-मोटे गिरोह यदि छोटी हिंसा का आश्रय लेकर सफल होते हैं तो सरकार बड़ी हिंसा के द्वारा उसको कुचलकर ही कानून और व्यवस्था कर सकती है। जो राजा दंडनीय व्यक्ति को दंड नहीं दे सकता वह राजा राज्य करने के योग्य नहीं है। मनुस्मृति ने "दंड धर्मविदुर्बुधाः"—कहकर राजा के लिए दंड को ही धर्म बताया है। भारत सरकार उग्रवादियों को नहीं कुचल सकती, यह कोई राजनीतिज्ञ मानने को तैयार नहीं होगा। असम में जहाँ उतनी सख्ती की जरूरत नहीं थी, वहाँ सरकार ने अनावश्यक रूप से अपने पौरुष का प्रदर्शन किया, और पंजाब में जहाँ सख्ती की नितान्त आवश्यकता है, वहाँ सरकार ने सरासर कापुरुषता का परिचय दिया है।

यहीं एक बात और कहने की है। अभी तक हम ब्रिटिश काल की इस न्याय व्यवस्था पर चल रहे हैं, कि सौ अपराधी भले बच ही जाएँ, किन्तु किसी निरपराध व्यक्ति को दंड नहीं मिलना चाहिए। इस व्यवस्था पर चलने वाली सरकार राज्य में शांति स्थापित नहीं कर सकती। दंडनीति और राजनीति का यह सिद्धान्त लोकतन्त्र में भले ही आदर्श माना जाय, पर यह आदर्श व्यवहार में नहीं उतर सकता। जब एक बार गेहूँ पीसने का इरादा कर लिया, तब गेहूँ के साथ घुन पिसने

की चिन्ता करने से गेहूँ भी नहीं पिसेगा। इसलिए पंजाब में सीमित इमरजेंसी घोषित करके उसको सेना के हवाले करना और उग्रवादियों को देखते ही गोली मारने की छूट देना अत्यंत आवश्यक है।

यदि हिंसा और अहिंसा इन दोनों रास्तों में से कोई भी स्वीकार नहीं, तब श्री गुरुनानक का यह कथन ही स्मरण आता है—

संग सखा सब तजि गए कोई न निभयो साथ।
कह नानक एहि विपत में, एक टेक रघुनाथ ।।

[मई २०, १९८४ ई०]

सावरकर की याद

२७ मई को श्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू की पुण्य तिथि है और २८ मई को बीर विनायक दामोदर सावरकर का जन्म दिवस है। इस प्रकार ये दोनों तारीखें साथ-साथ पड़ती हैं, हालाँक वर्षों की दृष्टि से इन दोनों तारीखों में बहुत दूरी है। जिस वर्ष ऋषि दयानन्द सरस्वती का निर्वाण हुआ, उसी वर्ष सन् १८८३ में २८ मई को नासिक जिले के एक छोटे से गाँव में सावरकर का जन्म हुआ था। २७ मई १९६४ को श्री जवाहर लाल नेहरू का स्वर्गवास हुआ और उसके भी दो वर्ष बाद २६ फरवरी १९६६ को वीर सावरकर २२ दिन तक निरन्तर उपवास करके स्वर्गारोहण कर गये।

अनेक दशकों का अन्तर होने पर भी २७ और २८ मई की समीपता में हमें एक व्यंजना प्रतीत होती है। नेहरू और सावरकर दोनों राष्ट्र निर्माता थे, दोनों ने भारत की महानता का स्वप्न देखा था। दोनों ने अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए कम बलिदान नहीं किया। पर भारत की महानता का स्वप्न देखने वाले इन दोनों महा-पुरुषों के चिन्तन और कार्य की प्रणाली में भेद रहा। राष्ट्र ने व्यापक रूप में नेहरू की विचारधारा को अपनाया। वह सौभाग्य सावरकर को प्राप्त नहीं हुआ। आज देश का जो भी नक्शा है उसके निर्माण में सबसे अधिक योगदान किसी एक व्यक्ति का है तो वह नेहरू का ही है, इसमें विवाद की गुंजाइश नहीं है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् वे राष्ट्र के प्रथम प्रधान मंत्री बने और अपने विचारों के अनुसार उन्होंने राष्ट्र के अस्तित्व की दृढ़ नींव रखी। जितने बड़े-बड़े उद्योग और बड़े-बड़े बाँध बने हैं और पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर जितने विकास कार्य हुए हैं, उन सबकी बुनियाद का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को देना हो, तो वह नेहरू के सिवाय और कौन है।

सावरकर की विचारधारा नेहरू जी से भिन्न है। सावरकर कट्टर हिन्दुत्ववादी और हिन्दू राष्ट्र के अभ्युत्थान के पुजारी थे। वीर सावरकर के विचारों के अनुसार यह राष्ट्र चलता तो आज देश का क्या नक्शा होता, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। परन्तु वीर सावरकर ने समय-समय पर जैसी चेतावनियाँ दी थीं, वे भविष्यवाणी के रूप में सत्य सिद्ध हुई हैं। यह देखकर ऐसा अनुभव होता है कि यदि यह राष्ट्र सावरकर के पद-चिन्हों पर चला होता तो शायद उन समस्याओं का सामना न करना पड़ता जिनमें उलझकर आज हमारे नेता किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में पहुँच गये हैं।

नेहरू और सावरकर दोनों ने इतिहास का गहन अध्ययन किया था और दोनों राष्ट्र-हित-चिंतक थे। परन्तु नेहरू की समस्त प्रेरणाओं का स्रोत पाश्चात्य विचारधारा थी, जबकि सावरकर पश्चिम में रहकर भी कभी पाश्चात्य विचाराधारा के वैसे अनुरक्त भक्त नहीं बन सके।

क्रान्तिकारियों के मुकुटमणि वीर सावरकर के जीवन की उन घटनाओं को छोड़ भी दिया जाय जिनको पढ़कर आज भी किसी देश-भक्त का हृदय रोमांचित हुए बिना नहीं रह सकता, और केवल उनकी विचाराधारा की ही बात की जाय, तो नेहरू और सावरकर दोनों दो छोरों पर खड़े दिखाई देते हैं। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान जैसे नारों से और इनके साथ परम्परा से प्राप्त विचाराधारा से नेहरू जी को विरक्ति थी और धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद, यन्त्रीकरण, तथा उद्योगीकरण जैसे पाश्चात्य विचारधारा से उत्पन्न शब्दों से उन्हें आवश्यकता से अधिक प्रेम था। इसलिए सावरकर जैसे लोगों को और उनके अनुयायियों को हमेशा वे साम्प्रदायिक समझते रहे, कहते रहे, और अपने से सदा दूर-दूर रखते रहे।

सावरकर और नेहरू के जीवन मूल्यों में भी स्पष्ट अन्तर दृष्टि-गोचर होता है। जीवन-स्तर को उन्नत करने और देश की गरीबी को दूर करने का जो नारा नेहरू जी ने देश को दिया, इससे आर्थिक

विकास की दृष्टि से देश ने प्रगति तो खूब की, परन्तु इस प्रगति के साथ मानवीय मूल्यों का सर्वथा ह्रास होता गया। आज चारों तरफ भ्रष्टाचार, कालाधन, महँगाई, अराजकता ओर प्रादेशिक वर्चस्व स्थापित करने की जो होड़ चल पड़ी है, उस सबका मूल इसी विचार-धारा में देखा जा सकता है। देश में बढ़ती हुई विघटनकारी प्रवृत्तियाँ, आतंकवाद और हिंसा उसी जीवन स्तर को उन्नत करने की होड़ के परिणाम हैं। जीवन में अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त करने के लिए धन चाहिए और धन प्राप्त करने के लिए अवैध उपाय चाहिए और उन अवैध उपायों के मार्गों की बाधाओं को दूर करने के लिए हिंसा का आश्रय चाहिए।

देश में ज्यों-ज्यों समृद्धि बढ़ती गई त्यों-त्यों मानवता पाँवों के नीचे पिसती गई। जो राजनेता पहले अपने त्याग, तपस्या और बलिदान के कारण जनता के हृदयों के सिंहासन पर विराजमान होते थे, आज वे अपने भोग-विलास और तस्करी तथा जमाखोरी के धन्धों में लिप्तता के कारण सरकारी कुर्सियों पर भले ही विराजमान हों, परन्तु जनता के हृदयासनों से वे कभी के गिर चुके हैं। हम केवल राजनेताओं और सरकारी अधिकारियों को ही दोष नहीं देते, क्योंकि समाज में भ्रष्टा-चार, रिश्वतखोरी और आदर्श और नैतिकता का हनन करके भी अपना उल्लू सीधा करने की आम प्रवृत्ति है। आज-कल सादगी और सरलता उपहास के विषय बन गये और "घटं भित्वा पटं छित्वा, रासभ-रोहणम्" के द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करना ही भलमानसाहत और बहादुरी समझी जाती है।

जब सावरकर को अण्डमान के बाद रत्नागिरि में नजरबन्द किया गया तब उन्होंने हरिजनोद्धार और शुद्धि को राष्ट्रीय कार्यक्रम घोषित किया। उन्होंने सन् १९२२ में ही चेतावनी दी थी कि देश के सीमावर्ती उत्तरपूर्वी क्षेत्रों में विदेशी ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों को नहीं रोका गया तो इस क्षेत्र में अलगाव की माँग उठेगी। सावरकर की इस

भविष्यवाणी की चरितार्थता हमने नागालैंड के निर्माण के रूप में देख ही ली।

इतिहास का गहन अध्ययन करने के पश्चात् सावरकर ने देश को एक सूत्र दिया था—धर्मान्तर, अर्थात् राष्ट्रान्तर, अर्थात् धर्म परिवर्तन के साथ-साथ विदेशी मिशनरी हरिजनों और वनवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न करने हैं। जब मुस्लिम लीग की योजना के अनुसार असम को मुस्लिम-बहुल क्षेत्र बनाने के षड्यंत्र के अन्तर्गत बंगलादेश से आकर मुसलमान वहाँ बसने लगे तो सावरकर ने चेतावनी दी थी—यदि असम में मुसलमानों की संख्या इसी तरह बढ़ती रही तो यह एक दिन देश के लिए भारी खतरा और असम के अस्तित्व के लिए चुनौती सिद्ध होगा। तब नेहरू जी ने सावरकर के कथन पर टिप्टणी करते हुए कहा था—"असम में खाली जगह पड़ी है। बंगाली मुसलमान वहाँ आकर बस रहे हैं। प्रकृति नहीं चाहती कि कहीं जगह खाली पड़ी रहे।" तब सावरकर ने इसका उत्तर दिया था—"जब इसका भीषण परिणाम हमारे और आपके बजाय हमारी सन्तानें भोगेंगी तब आपको मेरा कथन याद आयेगा।" क्या असम की विषम समस्या ने नेहरू की एकमात्र सन्तान इन्दिरा गाँधी के सामने सावरकर की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध नहीं कर दिया ?

सावरकर ने एक और नारा दिया था—"राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दू का सैनिकीकरण।" इस नारे की भी सरकार और जनता दोनों ने उपेक्षा की। उसका परिणाम यह है कि सारी राजनीति गैर-हिन्दुओं के तुष्टिकरण पर आधारित है। जहाँ तक सैनिकीकरण का सम्बन्ध है, उसकी उपेक्षा का परिणाम भी पंजाब में साफ दिखाई दे रहा है। यदि उस समय हिन्दुओं के सैनिकीकरण पर जोर दिया गया होता, तो आज पंजाब के हिन्दुओं को जिस असहाय स्थिति का सामना करना पड़ रहा है, वह न करना पड़ता।

२८ मई के उपलक्ष्य में जहाँ बारम्बार सावरकर की याद आती है, वहाँ मन में यह भी आता है कि काश ! देश ने सावरकर के बताये रास्ते पर चलने का प्रयत्न किया होता !

[मई २७, १९८४ ई०]

'जब अखबार मुकाबिल हो तो तोप निकालो ?'

महाकवि अकबर का बहुत प्रसिद्ध शेर है—

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

इस उक्ति में तलवार और तोप का मुकाबिला करने के लिए अखबार के रूप में कलम की जिस ताकत का गुणगान किया गया है, वह सब आज खतरे में है। कलम का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है, जबकि तलवार और तोप पर भरोसा रखने वाले बुद्धि के बजाय केवल अपनी हेकड़ी पर भरोसा रखते हैं। यही कारण है कि अधिनायकवादी राजनेता या ऐसे लोग जो बुद्धि के सहारे अपनी बात दूसरों को नहीं समझा सकते, वे तलवार का आश्रय लेते हैं। जिस तरह अधिनायकवादियों को समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता कभी रास नहीं—भले ही वे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का कितना ही दम भरते हों—उसी तरह केवल अपने आप को ठीक समझने वाले और अपने सिवाय शेष सारी दुनिया को गलत समझने वाले लोगों को भी सम्पादकों की कलम से सदा दुश्मनी रही है।

उग्रवादियों की माँगों की तर्कहीनता का सबसे प्रबल प्रमाण यही है कि वे केवल तलवार के जोर से अपनी बात औरों से मनवाना चाहते हैं। इसलिए जो भी उसकी माँगों को और उनके आचरण को गलत समझकर, पूरी सदाशयता के साथ, उनकी आलोचना करता है, वह उसी के जानी दुश्मन बन जाते हैं। फिर चाहे आलोचना करने वाला

कितना ही निष्पक्ष और भला-मानस क्यों न हो। पिछले दिनों उग्रवादी अकालियों ने दिल्ली गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष श्री हरबंश सिंह मनचन्दा, संसद सदस्य डा० विश्वनाथ तिवारी, भारतीय जनता पार्टी के नेता श्री हरबंश लाल खन्ना और अकाल तख्त के भू० पू० मुख्यग्रन्थी ज्ञानी प्रताप सिंह की तो हत्या की ही थी, जिन समाचार पत्रों के सम्पादकों ने उनको कभी भी नेक सलाह देने और सही रास्ता दिखाने की कोशिश की, उनको भी उन्होंने नहीं बख्शा। अब से तीन वर्ष पूर्व पंजाब केसरी लाला जगत नारायण की हत्या करने से ही उन्हें संतोष नहीं हुआ, बल्कि पिछले दिनों 'प्रीतलड़ी' के सम्पादक सुमित सिंह और 'चिनगारी' के सम्पादक सुखराज सिंह की हत्या .करने से भी वे बाज नहीं आए। इसी मई मास की १२ तारीख को हिन्द समाचार प्रकाशन समूह के मुख्य सम्पादक श्री रमेशचन्द्र की हत्या करके उन्होंने सारे संसार के सामने अपनी तर्कहीनता और कायरता को उजागर कर दिया है।

२४ दिसबम्र १९२६ को लाहौर में जन्मे रमेशचन्द्र पत्रकार परिवार से सम्बद्ध थे। १९४२ में भारत छोड़ो आंदोलन के समय उन्हें केवल १६ वर्ष की आयु में कारागार की यातना भोगनी पड़ी। देश के विभाजन के पश्चात् वे जालन्धर आ गये और वहीं अपने पिता के साथ पत्रकारिता में शामिल हो गये। सन् १९६५ में वे 'पंजाब केसरी' के सम्पादक बने। १९७७ में जनता पार्टी के टिकट पर जालन्धर शहर से विधानसभा के लिए चुने गये। कई देशों की यात्रा करने के अलावा वे ऐडीटर्स गिल्ड और इण्डियन एण्ड ईस्टर्न न्यूज पेपर एडिटर्स सोसायटी के भी सदस्य रहे। स्वभाव और लिबास से गाँधीवादी श्री रमेशचन्द्र अपने पिता जगत नारायण की तरह पूरी निर्भीकता के साथ प्रेस की आजादी के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे।

लाला जगत नारायण

लाला जगत नारायण कभी पंजाब मंत्री मण्डल में मंत्री रहे।

अनेक सामाजिक संस्थाओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। परन्तु अपने सिद्धान्तों के साथ कभी उन्होंने समझौता नहीं किया। और इस प्रवृत्ति को वे सदा ऋषि दयानन्द और आर्य समाज की देन मानते रहे। आपातकाल की शुरुआत जब सब प्रमुख समाचार पत्रों की बिजली काटकर की गई तब यह लाला जगत नारायण ही थे, जिन्होंने ट्रक पर जेनरेटर रखकर उसकी बिजली से मशीन चलाकर अखबार छापा और पुलिस को बुलाकर बाकायदा पहले दिखा दिया कि देख लो, तुम्हारे द्वारा बिजली काटे जाने के बाद भी हम अपना अखबार छाप रहे हैं। पत्रकार जगत में ऐसा उदाहरण किसी और ने प्रकट किया हो, यह ध्यान नहीं आता।

शायद सन् ७७ या ७८ की बात है। एक बार सहारनपुर में इस लेखक को और लाला जगत नारायण जी को बुलाकर एक विशेष आयोजन किया गया। उसमें हम दोनों व्यक्तियों का जिस सहृदयता के साथ अभिनन्दन किया गया, उससे हम दोनों विभोर हो गये। 'पंजाब केसरी' के नाते लाला जगत नारायण और दैनिक 'हिन्दुस्तान' के नाते इस लेखक के प्रति सहारनपुर वासियों का वह प्रेम पत्रकारीय निर्भीकता के कारण ही अधिक था, यह कहने की आवश्यकता नहीं। दोपहर को स्थानीय पत्रकारों और साहित्यकारों की एक गोष्ठी हुई जिसको हम दोनों ने संबोधित किया और रात को समस्त हिन्दू संस्थाओं और आर्य समाज की ओर से एक जन-सभा हुई जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध पत्रकार-साहित्यकार शैलीकार श्री कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर ने की। सभा का संचालन डा० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण' ने किया। उस दिन मेरे भाषण का विषय यही था कि राष्ट्र के उत्थान में ऋषि दयानन्द का क्या योगदान है। दीपावली से एक दिन पूर्व, जैन तीर्थंकर श्री महावीर, स्वामी रामतीर्थ और ऋषि दयानन्द—इन तीनों महापुरुषों के दीपावली पर निर्वाण होने की स्मृति में वह सभा हो रही थी। मैं उस क्षण को भुलाने पर भी भूल

नहीं पाता जब मेरे भाषण के बाद लाला जगत नारायण और सभा के अध्यक्ष श्री कन्हैया लाल मिश्र ने मेरी पीठ ठोकते हुए प्रेम से कहा था—"भैया रे ! यह भाषण तो तुम लिखकर हमको भेज दो तो हम उनको ट्रैक्ट के रूप में छाप दें।" मैं ऐसा हतभाग्य, और अपनी ही विवशताओं से घिरा, कि आज तक उस आदेश का पालन नहीं कर सका और लाला जगत नारायण उसके कुछ दिन बाद ही, सन् १९८१ के ९ सितम्बर को अपनी निर्भीकता के कारण उग्रवादियों की नृशंसता के शिकार हो गये। पीछे रह गया केवल उनका आशीर्वाद।

बन्धुवर रमेश जी

बन्धुवर रमेश जी के साथ के कुछ जीवन-प्रसंग भी इस समय स्मृति पथ पर उभर रहे हैं। दो बार उनके साथ पत्रकारों के टूर में शामिल होने का अवसर मिला था। एक टूर में हम दोनों ही बम्बई के प्रसिद्ध ताजमहल होटल में एक कमरे में साथ-साथ ठहरे थे। तब दोनों को भावनात्मक दृष्टि से भी एक दूसरे के निकट आने का अवसर मिला। पत्रकार मंडली में जैसी तुक हम दोनों की मिलती थी, वैसी औरों के साथ नहीं। कारण हम दोनों खद्दरपोश, दोनों ही स्वभाव से गांधीवादी, दोनों ही विचारों से (आर्य समाजी और दोनों ही पक्के टीटोटलर शराब न पीने वाले)। पत्रकार मंडली के अन्य सदस्यों के लिए ये बातें अपवाद स्वरूप थीं। जब रात्रिभोज से पहले पत्रकारों की हंगामी पान-गोष्ठी जुड़ती, तब केवल मात्र हम दोनों ही ऐसे व्यक्ति होते थे जो एक तरफ बैठे हुए तटस्थ भाव से उस चहल-पहल को देखा करते थे। अन्य पत्रकारों की दृष्टि में हम खटकते थे, पर एक तरह का संभ्रमपूर्ण आदर भी हम दोनों के प्रति उनके मन में रहता था। उन्हीं यात्राओं में मैंने अनुभव किया कि रमेशजी मुझसे आयु में १० वर्ष छोटे होते हुए भी विचारों की दृष्टि से काफी परिपक्व थे।

अपनी मृत्यु से पहले दिन बन्धुवर रमेशजी ने 'पंजाब केसरी' के सम्पादकीय में लिखा था—"हर रोज बेगुनाहों के कत्ल हो रहे हैं। सारा पंजाब एक कत्लगाह बन गया है। कई प्रतिष्ठित हस्तियां अपनी जाने गँवा चुकी हैं। कोई नहीं कह सकता कि कल किसकी बारी आने वाली है।

अपने उसी लेख के अंत में उन्होंने लिखा था—"न सरकार परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए कोई प्रभावपूर्ण और मजबूत कदम उठाती है और न ही अकाली नेता दिल से इस रक्तपात के विरुद्ध कुछ कहने को तैयार हैं। सरकार भी वोट गिन रही है और अकाली भी वोट गिन रहे हैं। लेकिन ईश्वर को तो वोटों की जरूरत नहीं। फिर वह क्यों खामोश बैठा मासूम और निर्दोष लोगों पर जुल्म होता हुआ देख रहा है।"

यह किसे पता क्या कि अगली बारी उन्हीं की आने वाली थी। अब शायद वे खुद ही ईश्वर के पास पहुँचकर उससे पूछें—"बता, तू खामोश क्यों है ?"

ईश्वर इसका क्या उत्तर देगा, यह तो कोई नहीं कह सकता, परन्तु रमेश जी के सुपुत्र अश्विनी कुमार ने 'पंजाब केसरी' के प्रथम पृष्ठ पर सम्पादकीय में कहा है—"जिस प्रकार मेरे दादा और मेरे पिता निर्भीकता-पूर्वक विचारों को व्यक्त करते रहे, मैं सौगन्ध खाता हूँ कि मैं भी उसी प्रकार राष्ट्र की अखंडता और हिन्दू-सिख एकता के लिए तथा सत्य की रक्षा के लिए अपनी कलम को कभी झुकने नहीं दूँगा।"

शाबाश अश्विनी ! तुम से यही उम्मीद थी। जब तक तुम्हारे जैसे पुत्रों की और सम्पादकों की परम्परा बनी रहेगी, तब तक कोई भी तलवार या कोई भी तोप कलम को झुका नहीं सकेगी, यह विश्वास है और इसी विश्वास को जीवित रखने के लिए तुम्हारे दादा और तुम्हारे पिता ने अपना जीवन उत्सर्ग किया है।

जिस दिन यह विश्वास समाप्त हो जाएगा, उस दिन यह दुनिया जीने के लायक नहीं रहेगी। न कलम वालों के लिए, न तलवार वालों के लिए—किसी के लिए भी नहीं।

[मई २७, १९८४ ई०]

भिवंडी का (ग) हरा रंग

हरा रंग समृद्धि का और खुशहाली का द्योतक माना जाता है, परन्तु वह बरबादी का भी पर्यायवाची बन सकता है, यह भिवंडी के उपद्रवों ने सिद्ध कर दिया है। सन् ७० में भी इस हरे रंग ने ही भिवंडी में चमत्कार दिखाया था।

सरकार के गुप्तचार विभाग ने, और जहाँ-जहाँ साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं उनकी सरकारी और न्यायिक जांच की रिपोर्टों ने, एक तथ्य बिल्कुल खुले तौर से उजागर किया है। उस तथ्य की रोशनी में ही हमें समस्या का विश्लेषण करना चाहिए। वह तथ्य यह है कि ये साम्प्रदायिक दंगे वहीं होते हैं, जहाँ मुस्लिम आबादी अधिक होती है, या मुस्लिम बस्ती के पाकेट बने होते हैं। बम्बई जैसा सुशिक्षित, समृद्ध और कास्मोपोलिटन शहर कभी साम्प्रदायिक जनून का शिकार हो सकता है, यह कल्पना करना कठिन है। परन्तु बम्बई से पचासेक मील दूर, भिवंडी कस्बे ने तो बम्बई के मस्तक पर यह कलंक का टीका लगा ही दिया।

कुछ लोग बाल ठाकरे और उसकी शिवसेना पर यह जहर फैलाने का आरोप लगाते हैं। परन्तु बाल ठाकरे किस चीज की उपज हैं, यह कोई नहीं सोचता। जिस तरह अन्य राज्यों में प्रादेशिकता उभरी है, उसी तरह बम्बई में प्रादेशिकता की लहर चलाने वाले बाल ठाकरे हैं, इसमें सन्देह नहीं। यह प्रादेशिकता महाराष्ट्र और महाराष्ट्रियनों के सर्वत्र वर्चस्व की हिमायती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति तमिलनाडु, तेलगु-देशम और कर्नाटक में भी है। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध साम्प्रदायिकता के साथ उतना नहीं है, जितना प्रत्येक क्षेत्र में अपने प्रदेशवासियों को प्रमुखता देने से है। फिर उसमें साम्प्रदायिकता कैसे जुड़ गई ?

यों आज ईरान, पाकिस्तान और बंगलादेश में कट्टरवाद का, जिसे आधुनिक राजनीतिज्ञों ने 'फंडामेंटलिज्म' नाम दिया है, बोलबाला है, और वहाँ खुमैनी, जिया और इरशाद पैदा हो रहे हैं। पर भारत के वातावरण में वैसा कट्टरवाद कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। सरकार के स्तर पर तो और भी नहीं। भारत की सरकार तो सेक्युलर है, डंके की चोट से वह इसकी दिनरात घोषणा भी करती है। पर उसका यह सेक्युलरवाद जिस पाश्चात्य उदारवाद की देन है, उसी उदारवाद की देन अल्पसंख्यकों को संरक्षण देना भी है।

अल्पसंख्यकों को संरक्षण वहाँ तो समझ में आता है, जहाँ बहुसंख्यकों का कोई सर्वसत्तावादी जीवन दर्शन हो। पर भारत में तो ऐसा कभी रहा नहीं। भारत में ८५% हिन्दू रहते हैं, पर वे न तो आक्रमणकारी हैं, न ही सर्वसत्तावादी। बल्कि वे तो अपनी अहिंसात्मक पृष्ठभूमि और अकट्टरता के लिए बदनाम हैं। जहाँ तक धार्मिक सहिष्णुता का सवाल है, उसमें तो हिन्दू ऐसे लाजवाब हैं कि कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी के साथ शांतिपूर्वक रहने में उन्हें कभी कोई परेशानी नहीं हुई। विचार-भेद को जितना प्रश्रय हिन्दुओं ने दिया है, उतना संसार के अन्य किसी वर्ग ने नहीं।

भारत सरकार ने जब संविधान में लोकतंत्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार किया, तो वह हिन्दू विचार-पद्धति के अनुकूल था और इसीलिए संविधान को उतनी मान्यता भी मिली। पर स्वयं सरकार ने अल्पसंख्यकों को प्रश्रय देकर सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त को सदा ताक पर रखे रखा। संविधान समस्त भारतीयों के लिए, समान दण्ड संहिता की तरह समान सिविल कानून का समर्थन करता है, पर सरकार कहती है कि हम ऐसा कभी नहीं करेंगे। वह हिन्दू कोड बिल बनाती है, मुस्लिम पर्सनल लॉ का समर्थन करती है, और अब तो उसने संविधान के २५ वें अनुच्छेद में संशोधन की बात स्वीकार करके अलग सिख लॉ का रास्ता भी साफ कर दिया है।

कभी-कभी सत्ता में बने रहने के लिए सरकार उस बन्दरबांट की नीति पर भी चलती है जिसमें बिल्ली तोल पूरा करने के लिए रोटी का एक टुकड़ा इधर से लेती है और दूसरा टुकड़ा उधर से, और इस तरह पूरी रोटी स्वयं खा जाती है और दोनों बन्दर देखते रह जाते हैं। अपनी कुर्सी बनाए रखने के लिए यदि कांग्रेस ने बाल ठाकरे और शिव-सेना का सहयोग न लिया होता, तो बम्बई में आज उनकी उतनी पूछ न होती। पर उस सरकार को क्या कहें जिसने मुसलमानों को खुश करने के लिए बान्दरा की पाली हिल रोड का नाम 'नरगिस दत्त मार्ग' रखते हुए नरगिस की पारिवारिक पृष्ठभूमि को भुलाकर उसके मुसल-मान होने को उभारा और इस नाम की पट्टी को हरे रंग में रंग दिया, जैसाकि सारी बम्बई में और किसी सड़क के नाम के साथ नहीं है। यदि सरकार ने तुरन्त गलती सुधार ली होती, तो बाल ठाकरे को बहाना तो न मिलता। फिर अगले दिन ही भिवंडी में सारा कस्बा हरे रंग के झंडों से भर गया। कहते हैं कि केसरिया रंग के झंडों के मुकाबले में ये हरे रंग के झंडे लगे थे। केसरिया रंग के झंडों की तो तुक थी—क्योंकि वे शिवाजी जयन्ती के उपलक्ष्य में लगे थे और शिवाजी जयन्ती के जलूस की अनुमति सरकार ने दी थी। पर हरे झंडे किस उपलक्ष्य में थे ? फिर परभणी में एक काँग्रेसी विधायक ने बाल ठाकरे की मूर्ति को जूतों की माला पहनाकर तो जैसे जानबूझकर साम्प्रदायिकता की बुझी हुई चिनगारी को प्रचंड ज्वाला में बदलने का अवसर दे दिया। सरकार ने उस विधायक के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की, केवल इस-लिए कि कहीं अल्पसंख्यक वर्ग नाराज न हो जाए।

कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि अब्दुल रहमान अन्तुले ने, जिनके सितारे आजकल गर्दिश में हैं और जिन पर इन्दिरा प्रतिभा प्रतिष्ठान में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने के कारण मुकदमा चल रहा है, अपनी वकत सिद्ध करने के लिए भिवंडी को अखाड़ा बनाया

और बनातवाला और ए० आर० खान की मार्फत यह करिश्मा कर दिखाया।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता जिस तरह सिर उठाती जा रही है, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी और भारतीय स्तर पर भी, उसी का विस्फोट हुआ है भिवंडी में। यह हरा रंग सामान्य नहीं है, इसका रंग कहीं अधिक गहरा है। यदि ८५% बहुसंख्यकों की उपेक्षा करके सरकार अल्पसंख्यकों को इसी तरह प्रश्रय देती रही, तो जो विघटनकारी शक्तियाँ पंजाब में पाकिस्तान और अमरीका की शह पर देश को खंडित करने का षड्यंत्र कर रही हैं, वे ही शक्तियाँ सारे देश को भिवंडी बना देने का रिहर्सल भिवंडी में करने से बाज नहीं आएंगी। इस हरे रंग की गहराई को समझना आवश्यक है।

[जून ३, १९८४ ई०]

आर्यसमाज की भूमिका

जब पंजाब में पानी सिर से ऊपर उतर गया और उग्रवादियों ने अपने हिंसाकांड से पंजाब को गृहयुद्ध के और देश को विघटन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया, तब अन्त में भारत सरकार ने पंजाब में सेना बुलाकर अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। आखिर कानून और व्यवस्था से निपटने के लिए हमारे पास यही तो अन्तिम हथियार है। भारत सरकार के इस कदम से समस्त जनता में कुछ वैसी ही उल्लास और आश्वासन की लहर दौड़ी है, जैसी दुर्भिक्ष और सूखे से पीड़ित किसान के मन में आसमान में छाई काली घटा की पहली बारिश से दौड़ती है। यह कदम काफी पहले उठाया जाना चाहिए था। समय पर बारिश हो जाय तो सूखा क्यों पड़े। अगर अकाली आंदोलन के उग्रवाद की ओर सरकते ही सरकार ने यह कदम उठा लिया होता तो आज पंजाब में गृहयुद्ध का खतरा पैदा न होता।

प्रश्न यह है कि पंजाब की समस्या के सम्बन्ध में आर्यसमाज की भूमिका क्या रही। जो पंजाब आर्यसमाज का सबसे बड़ा गढ़ रहा और जिसमें आर्यसमाज की शिक्षा संस्थाओं का जाल बिछा हुआ है, उसी पंजाब में हिंसा का यह नग्न तांडव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। पंजाब की पुलिस, सीमा सुरक्षा बल और केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को इतने अधिकार मिलने पर और राष्ट्रपति-शासन लागू होने पर भी यदि उन्हें उग्रवादियों का दमन करने में सफलता नहीं मिली तो उसका मूल कारण यह था कि केन्द्रीय सरकार आम सिख जनता की धार्मिक संवेदनाओं का विचार करते हुए सख्त कार्यवाही करने से लगातार कतराती रही। लोगों ने यहाँ तक कहना शुरू कर दिया कि असुरसंहारिणी दुर्गा के जिस हाथ ने ९३ हजार पाकिस्तानी सैनिकों को मिट्टी सुंघाकर

आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया था, उस हाथ को अब लकवा मार गया है।

धीरे-धीरे पंजाब के हिन्दुओं का सरकार पर से विश्वास उठता गया, उनका मनोबल भी गिरता गया और उनको लगने लगा कि देश-विभाजन के समय सन् 1947 में जैसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं, वैसी ही परिस्थितियाँ पुनः पैदा हो गई हैं और तब भारत सरकार जिस तरह पाकिस्तान के निर्माण पर रजामंद हो गई थी, उसी तरह अब खालिस्तान-निर्माण की ओर बढ़ रही है। इसमें संदेह नहीं कि अकाली पूरी तरह मुस्लिम लीग के नक्शे—कदम पर चलते हुए अपनी मंजिल तक पहुँचने का स्वप्न देख रहे थे। देशवासी निरन्तर यह अनुभव कर रहे थे कि चाहे उग्रवादी हों, चाहे उदारवादी, ये दोनों ही धर्म की ओट लेते हैं और एक दूसरे के लिए कवच का काम करते हैं। उद्देश्य दोनों का एक है और इसके लिए उन्होंने गुरुद्वारों को अपना माध्यम बनाया है। धार्मिक स्थानों में हत्यारे, तस्कर, गुण्डे और बलात्कारी बदमाश तथा देश के वातावरण में नफरत का जहर घोलने वाले तथाकथित संत शरण पाते रहें तो उन धर्म स्थानों की पवित्रता भंग नहीं होती, किन्तु पुलिस के प्रवेश से गुरुद्वारों की पवित्रता भंग होती है, यह तर्क किसी की समझ में आने वाला नहीं था।

आर्यसमाज ने शुरू से ही यह अनुभव किया कि अकालियों का यह आंदोलन केवल प्रादेशिक नहीं है और केवल साम्प्रदायिक भी नहीं है, बल्कि अमेरिका और पाकिस्तान की सब तरह की शह पर पलने वाले उन चन्द सिरफिरे लोगों का आंदोलन है जो खालिस्तान के नाम से राष्ट्र के विघटन पर आमादा हैं। यह आंदोलन सारे सिखों का भी नहीं, न ही सब सिख अकाली हैं। आंदोलन सारे पंजाबियों का बताना तो निरी हिमाकत है। क्योंकि इस आंदोलन का सम्बन्ध राष्ट्र के विघटन से था, इसलिए आर्यसमाज ने शुरू से ही इस आंदोलन का

विरोध किया और जनता तथा सरकार को बार-बार इसके परिणामों से आगाह भी किया। इसका नतीजा यह हुआ कि लाला जगत नारायण और उनके पुत्र रमेशचन्द जैसे स्पष्टवादी आर्यसमाजी पत्रकार उग्रवादियों की गोली के शिकार हुए और पंजाब का कोई ऐसा आर्य नेता नहीं बचा जो उनकी 'हिट लिस्ट' में न हो। पंजाब से बाहर के आर्य नेताओं को भी धमकी भरी चिट्ठियाँ जाने लगीं और आंतकवादियों ने यह सोचा कि इस प्रकार आर्य नेताओं को आतकित और भयभीत करके वे चुप करा देंगे।

आर्यसमाज के साधन और उसकी शक्ति कितनी ही सीमित क्यों न हो, किन्तु उसने सत्य का पक्ष लेने और असत्य का पर्दा फाश करने में कभी संकोच नहीं किया। यही कारण है कि मीनाक्षीपुरम् के कांड को लेकर जिस तरह सारे देश में धर्मान्तरण के विरोध में आर्यसमाज ने वातावरण तैयार किया वैसा और कोई संस्था नहीं कर सकी। अन्य राजनीतिक दल इसे धार्मिक मामला कह कर उससे उदासीन रहे, पर आर्यसमाज चुप नहीं बैठ सका। ठीक वही बात पंजाब के साथ भी हुई। समस्त विपक्षी दल अकाली नेताओं से मिलकर उनकी हाँ में हाँ मिलाने का प्रयत्न करते रहे और वे यह समझते रहे कि पंजाब की स्थिति अगर काबू से बाहर होती है तो यह इन्दिरा का सिर दर्द है। एक तरह वे अन्दर ही अन्दर प्रसन्न भी होते रहे कि समस्या जितनी उलझेगी, इन्दिरा का आसन उतना हीं डावाँडोल होगा। जिस तरह ये विपक्षी दल भावी चुनावों की दृष्टि से उग्रवादियों के विरुद्ध सख्ती बरतने के बजाय अपने-अपने मतों की गणना करने में लगे रहे, उसी तरह इंका के अदूरदर्शी नेता भी कभी लोंगोवाल का और कभी भिंडरावाले का पलड़ा भारी करके प्रधानमंत्री को झांसे में रखते रहे।

परन्तु आर्यसमाज ने दलीय स्वार्थों से घिरे राजनैतिक दलों से सदा अलग रहकर अपनी राष्ट्रीय भूमिका निभाने का प्रयत्न किया।

आर्यसमाज राजनैतिक दल नहीं है, परन्तु देश में चलने वाली राजनीति की गलत दिशा को वह चुपचाप देख भी नहीं सकता। उसने सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने का मन्त्र अपने गुरु से सीखा है और राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पित करने का पाठ अपने आचार्य से पढ़ा है। इसलिए किसी भी राजनीतिक या सामाजिक समस्या पर जैसा निष्पक्ष और बेलाग दृष्टिकोण आर्यसमाज का हो सकता है वैसा किसी अन्य संस्था का नहीं। अन्य संस्थाओं के सिद्धान्त और राजनैतिक गठजोड़ आये दिन बदलते रहते हैं परन्तु आर्यसमाज के न कोई दलीय स्वार्थ हैं, न ही उसे वोट गिनने हैं। अपनी स्पष्ट दृष्टि के कारण पंजाब की समस्या के सम्बन्ध में आर्यसमाज शुरू से जो बात कहता रहा वही बात उसने गत ३० मई को अपने प्रतिनिधिमण्डल के द्वारा प्रधानमंत्री से बातचीत के दौरान भी कही। आर्यसमाज के प्रतिनिधिमण्डल ने प्रधानमंत्री को यह भी समझाने की कोशिश की कि इस देश में बहु-संख्यकों की उपेक्षा करके कोई भी शासन न तो चल सकता है और न स्थिर रह सकता है। अल्पसंख्यकों के प्रति अन्याय नहीं होना चाहिए, यह तो ठीक है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि बहुसंख्यकों के प्रति अन्याय हो। इसके अलावा प्रतिनिधिमण्डल ने पंजाब की समस्या से निपटने के लिए उसे सेना को सौंपने और जरूरत पड़े तो इमरजैन्सी लगाने का भी आग्रह किया। उसके बाद यह संकेत भी दिया कि यदि सरकार कोई कदम नहीं उठाती तो आर्यसमाज अपनी ओर से पाँच सन्यासियों का ऐसा शहीदी जत्था अमृतसर भेजेगा जो स्वर्ण मन्दिर में जाकर तब तक धरना देगा जब तक कि अकाल तख्त की ओर से अवांछनीय व्यक्तियों को स्वर्णमन्दिर से निकलने का हुक्मनामा जारी नहीं होता। यह स्वयं गुरुद्वारों की पवित्रता की रक्षा के लिए आवश्यक है। यदि वे पाँचों संन्यासी उग्रवादियों की गोली के शिकार हो जायेंगे तो उसके बाद दूसरे पाँच सन्यासियों का जत्था भेजा जायेगा।

निश्चय ही इस सारे वार्तालाप से प्रधानमंत्री प्रभावित हुईं और द्रवित भी। उसी दिन उन्होंने राष्ट्रपति से डेढ़ घण्टे तक विचार विमर्श किया और पंजाब में सेना को बुलाने का निश्चय भी कर लिया। उसके अगले दिन सतना में एक उर्वरक कारखाने का उद्घाटन करते हुए प्रधानमंत्री ने पहली बार बहुसंख्यकों की हितों की रक्षा की आवश्यकता प्रकट की। उसके एक दिन बाद प्रधानमंत्री ने राष्ट्र के नाम अपील की और अगले दिन पंजाब सेना के हवाले कर दिया गया। हमें विश्वास है कि सेना को सौंप देने के पश्चात् जनता को यह शिकायत नहीं रहेगी कि असुर-संहारिणी के हाथ को लकवा मार गया है। केन्द्रीय सरकार की झिझक के कारण यदि इस ब्रह्मास्त्र को भी विफल हो जाने दिया गया तो आगे सिवाय राष्ट्र के विघटन के और कुछ नहीं बचता।

यहाँ हम प्रधानमन्त्री से भी एक निवेदन कर देना चाहते हैं। हमारा कहना यह है कि केन्द्रीय सरकार अपने व्यवहार का एक सिद्धांत तय कर ले और वह सिद्धान्त यह हो कि अल्पसंख्यकों की वे सब मांगें मान ली जायेंगी जो बहुसंख्यकों के हितों के विरुद्ध न हों। जिस तरह ऋषि दयानन्द ने सब शास्त्रों को वेद के अनुकूल होने पर ही प्रमाण माना है, वेद के विरुद्ध होने पर नहीं, उसी तरह राष्ट्र के सन्दर्भ में हम कहना चाहते है कि हिन्दू ही इस राष्ट्र का मेरुदण्ड है। इसलिए हिन्दुओं के हितों के विरुद्ध किसी भी बात को स्वीकार न करने की प्रतिज्ञा अगर प्रधानमन्त्री कर लें तो भारत का ८५ प्रतिशत बहुमत इतना समर्थ है कि अन्य अल्पसंख्यकों के वोटों की बिना चिन्ता किए वे किसी भी चुनाव में विजय प्राप्त कर सकती हैं। क्या इन्दिरा जी इस सत्य को हृदयंगम करेंगी ?

[१० जून, १९८४ ई०]

खेल खत्म, खेल शुरू

हाजीपीर और असम के हीरो लेफ्टिनैंट जनरल दयाल की कमान में जब ६ जून को भारत के सैनिकों ने अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर को उग्रवादियों से पूरी तरह मुक्त कर दिया तो एक तरह से इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों से उन्होंने लिख दिया कि धर्म और सम्प्रदाय के नाम से इस राष्ट्र को खण्डित नहीं किया जा सकता। हरमन्दिर पर किसी भी सूरत में गोली न चलाने की प्रतिज्ञा में बँधे होने के कारण ५० से अधिक जवान भले ही मारे गये पर स्वर्ण मंदिर को तस्करों, बलात्कारियों और हत्यारों से मुक्त करके सैनिकों ने सही अर्थों में उसकी पवित्रता की रक्षा की है। सेना के सामने ताब न पड़ी, तब अकाल तख्त के तहखाने में घुसकर अत्याधुनिक हथियारों से सेना पर दनादन गोली बरसाने वाले कायर-शिरोमणि भिडरांवाले, अमरीक सिंह, शुभवेग सिंह और उनके साथी जब अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए तब अन्त में उन्होंने विस्फोट करके अकाल तख्त को ही उड़ा दिया। जिस संयम, बहादुरी और द्रुत गति से सेना ने यह सफल आपरेशन किया है, उससे सारे देश में अपने जवानों के प्रति विश्वास बढ़ा है। भारत सरकार ने भले ही इस आपरेशन में इतनी देर कर दी परन्तु अन्ततः उसने मरीज को बचा लिया।

भिडरावाले और उनके साथी अन्त तक यह सोचते रहे कि ये कितनी ही नफरत फैलाते रहें और खून बहाते रहें, किन्तु जब तक वे स्वर्ण मंदिर के अभयारण्य में सुरक्षित हैं तब तक उनका बाल बाँका नहीं हो सकता। सेनापति दयाल के जिन सैनिकों ने धर्म के नाम पर खून बहाने वाले इन आतंकवादियों के घुटने टिकाये उसके ६ में से ४ कमान्डर सिख थे और जिस बटालियन को इस आपरेशन का काम

सौंपा गया था उसकी कमान एक मुसलमान अफसर के हाथ में थी। संसार के देशों ने अपनी आँखों से यह साफ-साफ देख लिया कि धर्म की ओट लेकर इस धर्म-निरपेक्ष देश को खण्ड खण्ड नहीं किया जा सकता। जब-जब भारत पर कभी ऐसा संकट आया है तब-तब भारतीय संस्कृति की इसी विशेषता ने चमत्कार दिखाया है। और अपनी अनेक दुर्बलताओं के कारण यह भारत राष्ट्र संसार में लोकतन्त्र और सम्प्रदाय निरपेक्षता के आदर्श प्रतीक के रूप में जीवित रहा है।

स्वर्ण मन्दिर के इस आपरेशन की सफलता के पश्चात सारे देश ने जहाँ राहत की साँस ली है वहाँ जन साधारण में वह भावना भी पैदा हुई है कि अब सब खेल खत्म हो गया। पंजाब की समस्या ने नेताओं की नींद और पंजाब के निवासियों की जिन्दगी हराम कर रखी थी। अब वे नेता आराम से सो सकेंगे और पंजाब के निवासी भी अपने जीवन को सुरक्षित समझकर अब पंजाब से पलायन का प्रयत्न छोड़ देंगे। सेना की इस कार्यवाही से एक बात यह भी स्पष्ट हो गई है कि कोई धार्मिक स्थान, चाहे वह तिरूपति व जगन्नाथ का मन्दिर हो, या दिल्ली की जामा मस्जिद हो, अब भविष्य में कभी एक राष्ट्र में दूसरे राष्ट्र की कल्पना करने वाले सिरफिरों के किले नहीं बनने दिए जायेंगे। धार्मिक असहिष्णुता के विष को दूर करने के लिए सेना द्वारा यह शल्यक्रिया आवश्यक थी। आखिर कोई भी मन्दिर राष्ट्र से ऊपर नहीं हो सकता।

जो लोग यह समझ रहे हैं कि सेना के घुसने से धार्मिक स्थान अपवित्र हो गया उनकी समझ पर हरेक समझदार को आश्चर्य होगा। विदेशों से आयातित आधुनिक हथियारों के जमा करने से, निहंगों के वेश में पाकिस्तानियों के घुसने से, पाकिस्तान के पासपोर्टों पर उग्र-वादियों के जमा होने से और सब प्रकार के अवैधानिक तथा असामाजिक दुष्कर्म करने से जो स्वर्ण मन्दिर अपवित्र हो गया था, सेना ने अपनी

कार्यवाही से उस अपवित्रता को समाप्त करके स्वर्ण मन्दिर को सचमुच पवित्रता प्रदान की है। इसके लिए उसको जितना भी धन्यवाद दिया जाय, वह थोड़ा है।

स्वर्ण मन्दिर को उग्रवादियों से मुक्त करवाने के पश्चात् बेशक एक खेल खत्म हो गया, पर दूसरा खेल शुरू हो गया। इस दूसरे खेल की शुरुआत के रहस्य को समझने के लिए अभी तक इस कार्यवाही में क्यों देरी हुई, इसके रहस्य को समझना आवश्यक है। वे उग्रवादी केवल स्वर्ण मन्दिर में तथा पंजाब के अन्य गुरुद्वारों में ही नहीं, बल्कि पंजाब के बाहर भी, और धार्मिक स्थानों के अलावा अन्य स्थानों पर भी, फैले हुए हैं। कनाडा और ब्रिटेन में भारतीय उच्चायोगों पर जिस तरह हमले हुए हैं उससे यह भी स्पष्ट होता है कि विदेशों तक उग्रवादी पहुँचे हुए हैं। खालिस्तान के स्वयंभू नेता जगजीत सिंह चौहान और गंगा सिंह ढिल्लो ने तो अपनी समस्त कार्यवाहियों का स्रोत बनाया ही विदेशों को है। अमेरिका, चीन और पाकिस्तान का भी प्रच्छन्न सहयोग उनको प्राप्त है। धर्म के नाम पर सिखों के साथ भेद-भाव का भ्रमपूर्ण भूत जिस पैमाने पर देश विदेश के सिखों के सिरों में सवार करा दिया गया है, उसका मनोवैज्ञानिक कारण कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु उसकी व्यापक प्रतिक्रिया की सम्भावना से ही सरकार अब तक सैनिक कार्यवाही करने से झिझकती रही।

जिस तरह प्रसिद्ध पत्रकार श्री खुशवन्त सिंह ने स्वर्ण मन्दिर में सैनिकों के प्रवेश के विरोध में 'पद्मविभूषण' का परित्याग किया है, और पटियाला के भूतपूर्व नरेश श्री अमरेन्द्र सिंह ने संसद से और इंका की सदस्यता से त्याग पत्र दिया है, उससे यह पता लगता है कि सिखों का तथाकथित बुद्धिजीवी और सम्भ्रान्त वर्ग भी अपने मौन द्वारा भिंडरावाले और उसके मरजीवड़ों का नैतिक समर्थन करता रहा है। ऐसे बुद्धिवादी लोग अपने आपको राष्ट्रवादी भी कहते रहे, पर मुख्यत: उनके अन्तस्तल में कहीं न कहीं साम्प्रदायिकता और अवसरवादिता

की चिनगारी भी सुलगती रही। आश्चर्य है कि निरपराध और निरीह लोगों की हत्या के विरोध में तथाकथित उदारवादियों और सिख बुद्धिवादियों की ओर से कभी कोई आवाज नहीं उठी। उनके मुँह पर ताला लगा रहा। खुशवन्त सिंह जैसे धर्म के मामले में अज्ञेयतावादी (इगनौस्टिक) व्यक्ति भी उग्रवादियों के दमन के लिए डण्डे का समर्थन तो करते रहे, परन्तु अब जब सेना ने दण्ड प्रयोग किया तो पत्रकार-प्रवर के दिल को इससे चोट लगी। क्या श्री खुशवन्त सिंह से यह पूछा जा सकता है कि यदि सरकार सेना का प्रयोग न करती तो उसके पास ऐसा और कौन सा जादू का डण्डा था जिसके प्रयोग से उग्रवादियों का दमन किया जा सकता? अगर श्री सिंह की जेब में कोई जादुई नुस्खा था भी, तो राज्यसभा के सदस्य होने के नाते उन्होंने संसद में बताया क्यों नहीं? पहले जनता की शाबाशी लूटने के लिए दण्ड प्रयोग का समर्थन करना और जब दण्ड का प्रयोग हो जाय तब अपने सम्प्रदाय की शाबाशी लूटने के लिए 'पद्मविभूषण' का परित्याग करना कोई गंभीर समझदारी का परिचायक नहीं है।

ऐसे ही लोग राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह से कह रहे हैं कि वे भी अपने पद से इस्तीफा दें। राष्ट्रपति तीनों सेनाओं के सर्वोच्च अध्यक्ष हैं। उनकी अनुमति के बिना यह सैनिक कार्यवाही सम्भव ही नहीं थी। अब तक कार्यवाही करने में देर भी इसलिए भी होती रही कि स्वयं राष्ट्रपति सेना या पुलिस के स्वर्ण मन्दिर में घुसने के पक्ष में नहीं थे। पर प्रधान मंत्री ने ३० मई को पौने दो घण्टे तक बातचीत करके राष्ट्रपति को सारी स्थिति समझायी। उसी के बाद राष्ट्रपति ने सैनिक कार्यवाही की अनुमति दी। आपरेशन की सफलता के बाद राष्ट्रपति सबसे पहले व्यक्ति थे जो ८ जून को स्वयं स्वर्ण मन्दिर में गये, गुरुग्रंथ साहब के सामने मत्था टेका, हरमन्दिर में भेंट चढ़ायी, गुरुवाणी सुनी और स्वयं अपने आप अपनी आँखों से देख लिया कि सेना के जवानों ने हरमन्दिर की ओर से चलने वाली गोलियों से अपनी जान भले ही दे

दी, पर अपनी ओर से हरमन्दिर पर एक भी गोली नहीं चलायी। जब स्वर्ण मन्दिर में बरामद हथियारों के जखीरे का कुछ हिस्सा राष्ट्रपति को दिखाया गया तो राष्ट्रपति स्वयं स्तब्ध रह गये कि ये हथियार यहाँ पहुँचे कैसे। तब शायद राष्ट्रपति के मन में सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में रही-सही शंका भी जाती रही और उन्होंने अपने आदेश के औचित्य को पूरी तरह हृदयंगम कर लिया।

अब जो नया खेल शुरू हुआ है उसमें स्वयं उदारवादी और बुद्धिवादी सिखों की अग्निपरीक्षा है। वे राष्ट्र की मुख्य धारा के समर्थकों का साथ देते हैं या सम्प्रदायवादियों का? अगर राष्ट्रवादियों का नेतृत्व स्वयं राष्ट्रपति अपने हाथ में लें, तो यह इस देश का अहोभाग्य होगा।

[१७ जून, १९८४ ई०]

हिन्द की चादर पर दाग

राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने १७ जून की रात को देशवासियों को सम्बोधित करते हुए जहाँ धार्मिक स्थानों की पवित्रता बनाये रखने का आग्रह किया है वहाँ साथ ही हिंदू धर्म की रक्षा के लिए सिख गुरुओं के बलिदान का भी स्मरण कराया है। राष्ट्रपति ने दिल्ली में शहीद हुए गुरु तेग बहादुर के बलिदान का जब वर्णन किया तो उनका दिल भर आया। उन्होंने गुरु तेग बहादुर को भारतवासियों द्वारा दिए गये 'हिंद की चादर' के खिताब का उल्लेख करते हुए सारे देश के प्रति हिंदुओं और सिखों के कर्तव्य का बोध कराया।

राष्ट्रपति की इस मार्मिक अपील का देशवासियों पर हितकारी प्रभाव पड़ेगा, यह हमको विश्वास है। गत सप्ताह हमने यह आशा व्यक्त की थी जो लोग मन्दिर में हुई सैनिक कार्यवाही के विरोध में बार-बार राष्ट्रपति को इस्तीफा देने के लिए कह रहे हैं, उनके बहकावे में न आकर राष्ट्रपति राष्ट्रवादी सिखों का पथ-प्रदर्शन करेंगे। राष्ट्रपति पिछले दिनों कितने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से गुजरे हैं और स्वयं एक निष्ठावान् सिख होने के नाते स्वर्ण मन्दिर में हुई कार्यवाही से उनके मन को कितनी ठेस लगी है, यह हम अनुभव करते हैं। पर इस अवसर पर राष्ट्रपति ने जिस दृढ़ता का परिचय दिया है और देशवासियों को राष्ट्र तथा संविधान की सुरक्षा की शपथ खाने के अपने दायित्व को प्रकट करते हुए इस्तीफा देने से इन्कार किया है, उससे समस्त देश वासियों के मन में राष्ट्रपति के प्रति आदर की भावना और बढ़ गई है। हमें अपने राष्ट्रपति पर गर्व है। उन्होंने सही समय पर राष्ट्र को सही नेतृत्व प्रदान किया है।

स्वर्ण मन्दिर में सेना की कार्यवाही के दौरान उग्रवादियों के मारे

जाने से जिन्होंने उसके विरोध में अरदास की है तथा शहीदी जत्थे भेजने का संकल्प किया है, उनकी सेवा में हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं। इस समय चारों तरफ सिख बन्धुओं के आहत हृदयों पर मरहम लगाने की चर्चा चल रही है और सरकार की ओर से तथा अन्य नेताओं की ओर से क्षमा याचना का सा रुख अपनाया जा रहा है। यह विचारणीय है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि सेना ने जिस बहादुरी से, संयम से, हरमिन्दर साहब को कुछ भी क्षति पहुँचाये बिना, समय की सीमा में, यह कार्यवाही की है, उसकी प्रशंसा के लिए किसी सिख नेता की ओर से एक शब्द नहीं निकला। उग्रवादियों के मरने पर जिनके दिलों को चोट लगी है, उनके दिलों को स्वर्ण मन्दिर की पवित्रता की रक्षा करने के लिए अपने आपको बलिदान कर देने वाले सैनिकों की शहादत ने छुआ तक नहीं। आश्चर्य है कि भिंडरावाले और उनके अनुयायियों को तो शहीदों का गौरव प्रदान किया जा रहा है और राष्ट्रीय कर्तव्य की वेदी पर सही मायनों में शहीद हुए सैनिकों की प्रशंसा में जबान बन्द है। भिंडरावाले को तो अवतार का रूप दिया जा रहा है, उनके बारे में कहा जा रहा है कि वे मरे नहीं हैं, समाधि में लीन हुए हैं और कुछ अर्से के पश्चात् वे समाधि में से पुनः जीवित होकर निकल आयेंगे। यह प्रचार सरासर बुद्धि-विरुद्ध, तर्क से असंगत और मानसिक विकृति का परिचायक है।

जैसे चोरी करने वाला चोर ही दण्ड का भागी नहीं होता, बल्कि जिसके पास चोरी का सामान पाया जाय, या जो उस चोरी के लिए उकसाये, या किसी भी प्रकार का सहयोग दे, वह भी दण्ड का भागी होता है, उसी प्रकार का न्याय यहाँ बरता जाना चाहिए, हमारा कहना यह है कि जिस दिन स्वर्ण मन्दिर हत्याओं, बलात्कारों, तस्करों, पाकिस्तानी जासूसों का अड्डा बन गया और वहाँ अवैध हथियार, शराब की बोतलें और चरस गांजा, अफीम तथा हेरोइन का जखीरा जमा होने लग गया, उस दिन वह पवित्र मन्दिर नहीं रहा। इसी

प्रकार जो लोग भिंडरावाले के आदेशों को मानकर अंधाधुन्ध हत्याओं पर उतर आये, वे गुरुओं के आदेश का उल्लंघन करने के कारण सिख भी नहीं रहे। इसलिए उनके मरने पर अफसोस कैसा। ये लोग हिंद की चादर की रक्षा करने वाले नहीं, बल्कि विदेशी धन और विदेशी हथियारों की मदद से खालिस्तान बनाने का स्वप्न संजोये हिन्द की चादर में छेद करने वाले थे। गुरु तेगबहादुर तथा अन्य गुरुओं ने जिस "हिन्द की चादर" को अपने बलिदान से उजला किया था, गुरुओं के इन गैर बन्दों ने उसी चादर में दाग लगाया है।

हम अपने सिख बन्धुओं से पूछना चाहते हैं कि यदि बाल ठाकरे जैसे किसी व्यक्ति ने तिरूपति जैसे किसी मन्दिर में बैठ कर इसी तरह का अभियान चलाया होता, जैसा कि स्वर्ण मन्दिर के अकाल तख्त में बैठकर भिंडरावाले ने चलाया था, उसी तरह हथियार जमा किए होते, और उसी तरह मरजीवड़े तैयार किए होते तो उस व्यक्ति के प्रति आपकी क्या धारणा होती ? या इमाम बुखारी जैसा कोई व्यक्ति जामा मस्जिद में बैठकर भिंडरावाले की तरह अपने अनुयायियों को यह आदेश देता कि एक-एक मुसलमान ३५-३५ गैर मुसलमानों को कत्ल करने का संकल्प ले, तो उस व्यक्ति को वे क्या कहते ? और अगर सरकार ने ऐसे मन्दिर या ऐसी मस्जिद में सेना भेजकर उन सिरफिरों का इलाज किया होता तब हमारे सिख बन्धुओं का प्रधानमंत्री या सरकार के प्रति क्या रवैया रहता ?

हम अपने सिख बन्धुओं से यह भी पूछना चाहते हैं कि कल यदि फूलन देवी अपने आपको सिख घोषित कर दे तो क्या आप उसके द्वारा किए गये बेहमई के हत्याकाण्ड को तारीफ के लायक समझेंगे ? या हाल में ही आस्ता में निरीह ग्रामीणों की हत्या करके अपनी निर्ममता का परिचय देने वाली कुसुमा नाइन सिख हो जाए, तो क्या उसकी निर्ममता सौम्यता में बदल जाएगी ? इसी प्रकार सिख धर्म की आड़ लेकर जितने गैर कानूनी और धर्म-विरुद्ध आचरण स्वर्ण मन्दिर में हुए

हैं, क्या वे इसीलिए क्षम्य हैं कि उन कामों को करने वाले अपने आपको सिख कहते थे ? सिख बन्धुओं को अपने हृदय पर हाथ रखकर ठण्डे दिमाग से यह सब सोचना होगा और अपने मन में से इस भूत को निकालना होगा कि सिख के साथ जिस चीज का भी सम्बन्ध है वह सदा सही है और जो भी कुछ गैर सिख है वह गलत है। पिछले दिनों यही मानसिक प्रवृत्ति कुछ सिख बन्धुओं में पैदा हो गई है।

जब हम 'कुछ' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका अर्थ यह भी है कि सिखों का ही विशाल वर्ग ऐसा भी है जो इस मानसिक विकृति का शिकार नहीं है। वह अपने गुरुओं के हिदुत्व की रक्षा के लिए किए गये बलिदानों की परम्परा को कायम रखना चाहता है। वह "हिन्द की चादर" को मैला हुआ नहीं देख सकता। और जिन लोगों ने इस चादर में दाग लगाया है उनको वह सिख नहीं, देशद्रोही मानता है। देशद्रोहियों के प्रति किसी भी प्रकार की सहानुभूति स्वस्थ मानसिकता की निशानी नहीं है। परन्तु सिखों के इन समझदार, राष्ट्रवादी और हिन्दू हितों से अपने आपको अलग न करने वाले लोगों की संख्या कितनी ही ज्यादा क्यों न हो, उनकी एक कमजोरी भी है और वह कमजोरी यह है कि वे अब तक मौन साधे रहे हैं। उन अधिसंख्य राष्ट्रवादी "हिन्द की चादर" के हितैषी सिखों के मौन का ही यह दुष्परिणाम है कि धर्म को देशद्रोह की सीमा तक पहुँचा देने वाले संकीर्ण दिमाग के अल्पसंख्य सिखों के हाथ में उनका नेतृत्व चला गया।

राष्ट्रपति की इस मार्मिक अपील के पश्चात् मन में यह भरोसा होता है कि अब तक मौन साधे राष्ट्रवादी सिख भी अब अपना मौन भंग करेंगे और अपने भ्रान्त बन्धुओं को सही रास्ते पर लाने के लिए कुछ सक्रियता प्रदर्शित करेंगे। उनके मौन से अब तक हिन्द की चादर पर बहुत दाग लग चुके हैं। अब उन दागों को मिटाने के लिए इन समझदार सिखों का मुखर होना आवश्यक है। राष्ट्र के नाम अपील से राष्ट्रपति ने उन्हीं को वाणी दी है। [जून २४, १९८४ ई०]

अरदास । पश्चात्ताप । धन्यवाद

पंजाब में सैनिक कार्यवाही द्वारा उग्रवादियों के सफाये के बाद चारों तरफ घावों पर मरहम लगाने की चर्चा है। पर घाव किनको लगे हैं और मरहम किनको लगानी है, इस बारे में एक विचित्र सा कोहरा कुछ लोगों के मानसगगन पर छाया हुआ है। सैनिक कार्यवाही करने का आदेश देने वाले भी कुछ क्षमायाचना की सी मुद्रा बनाये हुए हैं।

विभिन्न राजनैतिक दल फिर अपने-अपने सियासती खोलों में घुसकर दून की हाँकने लगे हैं। उनके सामने केवल आगामी आम चुनाव हैं और प्रत्येक घटना के औचित्य अनौचित्य का वे इसी दृष्टि से विश्लेषण करते हैं। पंजाब की समस्या को भी वे अपने सीमित सियासती दृष्टिकोण से ही देखते हैं। इसलिए उनका सारा आक्रोश केवल इसी बात पर है कि इंदिरा गाँधी ने यह कार्यवाही पहले क्यों नहीं की। साथ में विपक्षी दल अब यह राग भी अलापने लगे हैं कि इंदिरा गाँधी ने केवल चुनावों को दृष्टि में रखकर ही पहले समस्या को इतना उलझ जाने दिया और अब निर्ममता पूर्वक सैनिक कार्यवाही करके चुनाव में जनता को अपने पक्ष में करने के लिए यह खेल खेला है। इन विपक्षी दलों के सामने न पहले राष्ट्रीय दृष्टिकोण था न अब राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। उनके आक्रोश की पात्र प्रधान मंत्री है—सैनिक कार्यवाही करने से पहले भी और सैनिक कार्यवाही करने के बाद भी। पहले आक्रोश यह था कि सैनिक कार्यवाही क्यों नहीं? अब आक्रोश यह है कि सैनिक कार्यवाही क्यों—इसके बिना भी काम चल सकता था।

भारतीय जनता पार्टी में उसके उपाध्यक्ष श्री राम जेठमलानी ने

जिस तरह सुप्रीम कोर्ट में लोंगोवाल के पक्ष में याचिका पेश की और उसके बाद अपने पद से और पार्टी से इस्तीफा दिया, परन्तु फिर वह इस्तीफा वापस ले लिया, यह केवल भावी चुनावों को दृष्टि में रखते हुए कलाबाजी है। कुछ ऐसी ही कलाबाजियाँ जनता पार्टी के नेता भी खा रहे हैं। श्री चन्द्रशेखर ने सैनिक कार्यवाही का विरोध किया है और श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी तो पहले ही यह सर्टीफिकेट दे चुके थे कि स्वर्ण मन्दिर में न कोई उग्रवादी है और न ही कोई घातक हथियार है। इन कलाबाजियों के पीछे जान-बूझकर जनता को बरगलाने की मंशा नहीं, तो क्या है ?

पंजाब की समस्या केवल सिखों की या किसी एक प्रांत और एक दल की नहीं थी, वह राष्ट्रीय समस्या थी। और उस राष्ट्रीय समस्या के सही रूप को समझने में जिस प्रकार कुछ सिख बन्धुओं ने भ्रान्त बुद्धि का परिचय दिया है, उससे मिलती-जुलती भ्रान्ति विपक्षी नेताओं के वक्तव्यों में नजर आती है। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि भिंडरावाले और उसके अनुयाईयों ने पाकिस्तान तथा अमेरिका की मिलीभगत से खालिस्तान बनाने की योजना पूरी करने के लिए कितने बड़े पैमाने पर षडयन्त्र किया था। एक मित्र देश की गुप्तचर संस्था के द्वारा पहली जून को भारत सरकार को यह सूचना मिली ११ जून को अकाल तख्त से स्वतंत्र खालिस्तान की घोषणा की जाने वाली है। उस गुप्तचर संस्था ने पाकिस्तान के एक जनरल और भिंडरावाले के बीच शक्तिशाली ट्रांसमीटर पर हुई बातचीत का टेप भी भारत सरकार को दिया था। स्वतन्त्र खालिस्तान की घोषणा होते ही पाकिस्तान, चीन और संभवतः ब्रिटेन और अमेरिका भी उसे मान्यता देने वाले थे। ५ जून को पाकिस्तान की सहायता से स्वतंत्र खालिस्तान के रेडियो स्टेशन की स्थापना की योजना भी थी। पाकिस्तान की ओर से इसकी पूरी तैयारी थी कि स्वतंत्र खालिस्तान की घोषणा होते ही पाकिस्तान की सीमा पर बड़े पैमाने पर भारतीय सेना को उलझाये रखने की कार्यवाही शुरू कर

दी जाय। देश भर के गुरुद्वारों में और सिख सैनिक केन्द्रों में पाकिस्तानी जासूसों और तोड़-फोड़ करने वालों का जाल पहले ही बिछाया जा चुका था। प्रत्येक राज्य में २५० प्रशिक्षित उग्रवादी भी भेजे जा चुके थे। देश भर में संचार प्रणाली को और सैनिक यातायात को ठप्प करने की भी योजना थी। यदि सैनिक कार्यवाही में सरकार विफल हो जाती तो पाकिस्तान और चीन का रवैया क्या होता, जरा कल्पना तो करिये।

इतने बड़े राष्ट्र-विघटनकारी षडयन्त्र को विफल करने का यह छोटा-मोटा कांड नहीं है। उग्रवादियों के विरोध में सेना को जिस पैमाने पर कार्यवाही करनी पड़ी, उसका उदाहरण संसार के किसी अन्य देश में नहीं मिलेगा। खालिस्तान के जो समर्थक यह कल्पना किए बैठे थे कि भारत की सहायता से अगर बंगलादेश बन सकता है, तो पाकिस्तान की सहायता से खालिस्तान क्यों नहीं बन सकता, या बंगला देश में अपनी नाक कटने के बाद उसका बदला लेने के लिए खालिस्तान के रूप में पाकिस्तान अपनी कटी हुई नाक को पुनः जोड़ने का स्वर्ण अवसर समझता हो, तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है। उन दोनों के स्वप्न जिस तरह से चकनाचूर हुए हैं वह भारत राष्ट्र की एक महान उपलब्धि है। इस महान राष्ट्रीय उपलब्धि को न मृतक उग्रपंथियों के लिए अरदास करने वाले सिख बन्धु समझते हैं और न ही दलीय राजनीति के घेरे में घिरे विपक्षी दलों के नेता समझते हैं।

मृत्यु स्वयं एक करुणाजनक घटना है और किसी भी व्यक्ति की मृत्यु पर मानवीय संवेदना का उमड़ना स्वाभाविक है। वैसे भी नीतिकारों ने कहा है—**"मरणान्तानि वैराणि"**—मरने के बाद सब वैर समाप्त हो जाते हैं। परन्तु मृत्यु मृत्यु में भी अन्तर होता है। एक मृत्यु पर मानवता राहत की साँस लेती है कि ऐसा अमानवीय कृत्य करने वाला इस धराधाम से उठ गया, यह अच्छा हुआ। दूसरी मृत्यु वह है जो अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए कर्तव्य का पालन करते हुए होती है।

असली दुःखदायी मृत्यु यही होती है जिस पर सारे राष्ट्र को शोक मनाना चाहिए। परन्तु हो रहा है इससे उल्टा। एक तरफ रावण और उसके साथियों की मृत्यु का प्रसंग है और दूसरी तरफ मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के वीर सैनिकों की मृत्यु का प्रसंग है। क्या इन दोनों को एक तुला से तोला जा सकता है ?

हम मानते हैं कि जितने उग्रवादी मरे हैं, वे भी हमारे राष्ट्रीय बन्धु थे और इसी भारत माता की सन्तान थे। परन्तु वे किसी के बहकावे में आकर अपनी माँ की कोख को कलंकित करने वाले रास्ते पर चल रहे थे। जिन सिख बन्धुओं के हृदय पर इन उग्रवादियों की मृत्यु से चोट लगी है, उनसे हमें पूरी सहानुभूति है। परन्तु जिन घावों पर मरहम लगाने की आवश्यकता है वे ये नहीं हैं। हमें अपने राष्ट्र बन्धुओं के मरने पर कितना ही दुःख क्यों न हो, परन्तु वे देशद्रोही थे और गलत उद्देश्य के लिए अपनी जान दे रहे थे, इसलिए उनको हीरो मानकर उनकी पूजा करना किसी भी तरह देश भक्ति नहीं कहला सकती। जहाँ अपने इन बन्धुओं के इस दुःखद अन्त पर हमारी आँखों में आँसू हैं, वहाँ खालिस्तान के स्वप्न को चकनाचूर करने के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाले वीर सैनिकों पर गर्व भी है। जो केवल उग्रपंथियों के मारे जाने पर अरदास करते हैं वे इन सैनिक वीर जवानों की आहुति पर अरदास क्यों नहीं करते ? सही राष्ट्रवादी दृष्टिकोण यही होता। प्रत्येक राष्ट्रवादी के लिए तो कवि की यह उक्ति सार्थक होती है—"इक आँख आँसू बरस रही है, इक आँख जय जय पुकारती है"—जहाँ हमारी एक आँख में आँसू है वहाँ दूसरी आँख में जय का घोष भी है। हम अपने सिख बन्धुओं से यह आशा करते हैं कि वे केवल अरदास दिवस नहीं, बल्कि उसके साथ पश्चात्ताप दिवस और वीर सैनिकों के लिए धन्यवाद दिवस का भी एक साथ ही आयोजन करेंगे। जिसकी आँख में केवल आँसू हैं और अपने सैनिकों के लिए जय घोष नहीं है, उसकी दूसरी आँख नदारद है। उसे सही और सुजाखा राष्ट्रवादी कहना मुश्किल है। [१ जुलाई, १९८४ ई०]

कश्मीर में भी ऐतिहासिक भूमिका

"आप जानते हैं कि आप किससे बात कर रहे हैं ? मैं कश्मीर का मुख्यमंत्री हूँ ।"

"आप भी जानते हैं कि आप किससे बात कर रहे हैं ? मैं आपके बाप का सहपाठी हूँ । मैं और शेख अब्दुल्ला कश्मीर के अमुक स्कूल में बचपन में एक साथ एक ही क्लास पढ़ते रहे हैं । इसलिए आप मुझे अपने चाचा का दर्जा तो तो दे ही सकते हैं ।"

"अच्छा-अच्छा यह बात है । जो आर्य समाज मन्दिर हजूरी बाग जला दिया गया है, मैं उसकी क्षति पूर्ति के लिए अपनी सरकार की ओर से एक लाख रुपया देने को तैयार हूँ ।"

यह अंश है उस वार्तालाप का जो आर्य समाज के प्रतिनिधि मंडल के नेता सावदैशिक सभा के प्रधान श्री रमगोपाल शालवाले और तत्कालीन कश्मीर के मुख्यमंत्री डॉ० फारूख अब्दुल्ला के मध्य हुआ । इस बीच और जो बातें हुई उनमें डॉ० फारुख अब्दुल्ला ने जो रूख अपनाया, वह मुख्यमंत्री के योग्य तो था ही नहीं, बल्कि उसे शिष्ट-जनोचित कहना भी सम्भव नहीं है । डॉ० अब्दुल्ला ने बातचीत के दौरान अपना यह मन्तव्य भी, शायद अनजाने में ही, प्रकट कर दिया कि मैं तो चाहता हूँ कि सब हिन्दू यहाँ से चले जायें । मैं नहीं चाहता कि आर्य समाज मन्दिर यहाँ दुबारा बनाया जाये ।"

आर्य समाज के प्रतिनिधि मंडल ने डॉ० अब्दुल्ला को उनके पिता शेख अब्दुल्ला के राष्ट्रवाद की याद दिलायी और यह भी याद दिलाया कि वह हमेशा आर्य समाज के कामों के प्रशंसक रहे और उन्होंने कभी आर्य समाज पर साम्प्रदायिकता का लांछन नहीं लगाया । आर्य समाज के प्रतिनिधि मण्डल ने उनसे कहा कि आपने अपने पिता के समय की

नीतियों को बदल कर अब पाकिस्तान-समर्थक तत्वों और खालिस्तान-पक्षपाती उग्रवादियों से हाथ मिलाया है, यह किसी भी तरह से देश के हित में नहीं है। पंजाब में सैनिक कार्रवाही के तुरन्त बाद कश्मीर में जो दंगे हुए उनमें आपकी पुलिस खड़ी-खड़ी तमाशा देखती रही और हिन्दुओं के मन्दिर तथा दुकानें जलाई जाती रहीं। आश्चर्य की बात यह है कि उस दंगे में जो लोग मारे गये उनकी आपने जाँच भी नहीं करवाई। हमें शक है कि मरने वाले लोग सिखों के वेष में पाकिस्तानी मुसलमान थे और इसी आशंका के कारण आपने न उनका पोस्टमार्टम करवाया और न घटना का न्यायिक जाँच करवायी।

इसी बात पर डॉ० फारूख अब्दुल्ला गरम होकर बोले थे और अपने मुख्यमंत्री होने का रौब दिखाया था। वार्तालाप की समाप्ति पर डॉ० अब्दुल्ला ने आर्यसमाज मन्दिर और उसके साथ लगी कन्या पाठशाला के पुर्ननिर्माण के लिए एक लाख रुपये देना स्वीकार किया था। इन दोनों इमारतों के जलने से लगभग ५५ लाख रुपये की क्षति का अन्दाज है। आर्य समाज का प्रतिनिधि मण्डल सरकार द्वारा एक लाख रुपये के प्रस्ताव को सधन्यवाद अस्वीकार करके मुख्य मंत्री के कक्ष से बाहर निकल आया था।

उसके बाद आर्य समाज के प्रतिनिधि मण्डल ने ५ दिन तक कश्मीर में रहकर विभिन्न विश्वसनीय स्रोतों से जो जानकारी हासिल की, उससे प्रतिनिधि मण्डल की आँखें खुली की खुली रह गयीं। तभी पता लगा कि किस प्रकार १४ अगस्त को (जो पाकिस्तान का जन्म दिवस है) कश्मीर को इस्लामी जमहूरियत बनाने की और जम्मू के इलाके को खालिस्तान में शामिल करने की गहरी साजिश थी जिसे पूरा करने के लिए आजाद कश्मीर से लगभग ३ हजार मुसलमान कश्मीर में आकर सिखों के वेष में गुरूद्वारों में ठहरे हुए थे। उधर पंजाब में कार्यवाही शुरू होते ही वब्बर खालसा और सिख स्टुडैंट्स फैडरेशन के उग्रवादी कश्मीर में घुस आये थे। यह भी स्मरणीय है कि

जो सिख छात्र संघ पंजाब में प्रतिबन्धित था उस पर फारूख अब्दुल्ला ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया था। उग्रवादियों के प्रशिक्षण शिविर गुरू-मत कैम्प के नाम से कश्मीर के विभिन्न स्थानों पर लगते रहे हैं। वहाँ उनको शस्त्रास्त्र चलाने की ट्रेनिंग के अलावा उनके दिमागों में भारत-विरोधी विचार भरे जाते रहे है। स्वयं कश्मीर में लिबरेशन फ्रंट नाम से जो मोर्चा कायम है उसमें पाकिस्तान-समर्थक अवामी लीग के प्रधान मोलवी फारूक के अलावा राज्य के कई वरिष्ठ मंत्रियों और सरकार के अधिकारियों का भी भरपूर सहयोग रहा है। कश्मीर विश्वविद्यालय तो जैसे राष्ट्र-विरोधी तत्वों का गढ़ ही बना हुआ है।

कश्मीर को भारत से अलग करने के लिए प्रयत्नशील मुक्ति मोर्चे के लोग, आजाद कश्मीर के प्रमुख नेता, तथा खालिस्तान आन्दोलन के स्वयंभू राष्ट्रपति जगजीत सिंह चौहान परस्पर कई बार मिलकर इस योजना को कार्यान्वित करने का षड्यन्त्र करते रहे हैं। इन सबकी मिलन-स्थली ब्रिटेन रहा है। ब्रिटेन स्थित भारतीय दूतावास के कर्म-चारी श्री म्हात्रे की हत्या में इन तत्वों का हाथ था और मकबूल भट्ट की फाँसी पर कश्मीर में उपद्रव करने वाले भी यही तत्व थे। इसी प्रकार की और बहुत-सी विस्फोटक जानकारी आर्य समाज के प्रति-निधिमण्डल को मिली।

आर्य समाज के प्रतिनिधिमण्डल ने वह सारी रिपोर्ट कश्मीर से लौटकर २८ जून को प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को दी और फारूख अब्दुल्ला के साथ हुए अपने वार्तालाप का पूरा विवरण भी उन्हें सुनाया। प्रधानमंत्री ने तुरन्त कश्मीर के राज्यपाल श्री जगमोहन को बुलाकर वह गुप्त रिपोर्ट उन्हें पकड़ाई और उसके आधार पर आव-श्यक कार्यवाही करने का निर्देश दिया।

एक जुलाई को ईद का त्योहार था। सारा मुस्लिम जगत् अपने पवित्र त्योहार को मनाने में मशगूल था। उधर राज्यपाल अगली कार्यवाही की तैयारी के लिए अपनी बिसात बिछा रहे थे। २ जुलाई

का दिन आते ही प्रातःकाल राज्यपाल ने डॉ० अब्दुल्ला को बुलाया और उनको कहा कि अब आपका बहुमत नहीं रहा, इसलिए आप इस्तीफा दे दें, अन्यथा मुझे अपने अधिकार का प्रयोग करके आपको मुख्यमंत्री पद से बर्खास्त करना पड़ेगा। ईद के तोहफे के रूप में डॉ० अब्दुल्ला की कुर्सी पर उनके सगे बहनोई गुलाम मुहम्मद शाह को बिठा दिया गया और राष्ट्रविरोधी तत्वों से साठगाँठ का पुरस्कार डॉ० अब्दुल्ला को मिल गया।

पंजाब में सैनिक कार्यवाही होने के साथ ही जिस प्रकार का माहौल कश्मीर में बनाया जा रहा था, उसके कारण भावी घटनाओं का आकलन करने वाले पत्रकार और राजनीतिज्ञ यह तो अनुमान कर रहे थे कि कश्मीर में भी कुछ उथल-पुथल होने वाली है, परन्तु प्रधान-मंत्री कश्मीर में इतनी जल्दी कदम उठायेंगी, यह किसी को कल्पना नहीं थी। फारूख अब्दुल्ला को तो कतई नहीं।

जिस तरह ३० मई की आर्य समाज के प्रतिनिधि मण्डल से भेंटके पश्चात् प्रधानमंत्री ने पंजाब में सैनिक कार्यवाही का निश्चय कर लिया, उसी प्रकार कश्मीर के सम्बन्ध में भी २८ जून को आर्यसमाज के प्रतिनिधि मण्डल द्वारा दी गई गुप्त रिपोर्ट के पश्चात् ही प्रधानमंत्री ने कश्मीर में कार्यवाही करने का निश्चय कर लिया। हम यह नहीं कहते कि पंजाब और कश्मीर की यह कार्यवाही प्रधानमंत्री ने आर्य-समाज के कहने से की है। ऐसा सोचना भी मिथ्या अहमन्यता होगी। परन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि दोनों राज्यों में राष्ट्र के सम्मुख जो खतरा उपस्थित था उसको सही परिप्रेक्ष्य में देखने की हिम्मत आर्य-समाज ने ही की, जबकि अन्य सब राजनैतिक दल इन दोनों राज्यों में घटित घटना चक्र को केवल अपने दलीय दृष्टिकोण से ही देखते रहे।

अब भी जिस प्रकार समस्त विपक्षी दलों ने कश्मीर में हुई इस कार्यवाही का समर्थन करने के बजाय उसका विरोध किया है, उससे

यह स्पष्ट है कि सब राजनीतिक दल केवल चुनाव, केवल वोट और केवल इन्दिरा गांधी को हटाने की बात ही जानते हैं, इससे अधिक वे कुछ नहीं सोच पाते। हमें इन विपक्षी दलों पर आश्चर्य होता है, कि संकुचित राजनीति ने उनको कितना संकुचित बना दिया है। जितने भी राष्ट्रीय प्रश्न हैं उन सब पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने का नजरिया इन सब राजनैतिक दलों को आर्यसमाज से सीखना चाहिए। पंजाब और कश्मीर के सम्बन्ध में आर्यसमाज की इस ऐतिहासिक भूमिका को राष्ट्र आसानी से भुला नहीं सकेगा।

[१५, जुलाई १९८४ ई०]

कैसे हैं ये जगन्नाथ ?

जगन्नाथ—यानी जगत् के नाथ, संसार के स्वामी। जो संसार का स्वामी और जगत् का नाथ है उसकी दृष्टि में संसार के सब निवासी एक समान हैं फिर चाहे वे किसी भी देश के हों, किसी रूप-रंग के हों, और कोई भी भाषा बोलने वाले हों। संसार के स्वामी के राज्य में किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं है। वह जगन्नियन्ता परमात्मा न किसी के साथ पक्षपात करता है और न किसी के साथ अन्याय करता है। जहाँ वह दयालु है, वहाँ न्यायकारी भी है। उसके न्याय और उसकी दया में अन्तर नहीं है। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने परमात्मा के लिए 'न्यायकारी और दयालु' इन दोनों विशेषणों का साथ-साथ प्रयोग किया है।

समस्त मानव जाति के लिए एक मात्र पूज्य और पिता की तरह संरक्षक और कोई सत्ता नहीं है। स्वयं वेद में प्रभु ने मानव मात्र को **"शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः"** अमृत पुत्र कहा है। जिस तरह एकपिता की सन्तान होने के नाते सब पुत्र आपस में भाई-भाई होते हैं। उसी तरह वेद की दृष्टि में संसार के सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। इतना ही नहीं, वेद इससे और आगे भी जाता है और कहता है--**"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय"**—तुम में कोई छोटा नहीं है, कोई बड़ा नहीं है। तुम सब समान भ्रातृत्व से बँधे हो, सब इकट्ठे होकर अपने सौभाग्य और समृद्धि के लिए आगे बढ़ो।

जिस तरह परमात्मा ने सारी मनुष्य जाति को अपने पुत्र के नाते समानता का दर्जा दिया, वहाँ उसने अपनी सब नियामतें संसार के सब मनुष्यों के लिए समान रूप से वितरित की है। पृथ्वी, जल, वायु,

अग्नि आकाश ये पाँचों तत्व और इनके अलावा भूगर्भ और समुद्र गर्भ में छिपे नाना रत्न और खनिज पदार्थ परमात्मा की ओर से समस्त मनुष्य जाति के लिए समान रूप से वितरित हैं। पूँजीवाद और समाजवाद तथा अन्य अनेक वादों की कल्पना हमने अपने मन से कर डाली है। परम पिता परमात्मा के राज्य में सिवाय समानवाद के और कोई वाद नहीं है। संसार भर में जितनी असमनता दखाई देती है, वह मनुष्य की कृति है। प्रभु ने तो हरेक प्राणी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार न्यायपूर्वक नाना योनियाँ प्रदान करके समानता का दर्जा ही दिया है।

इस असमानता को जन्म देने वाले मनुष्य ने ही ऊँच-नीच, जाति-पाँति और छुआछूत की भावना समाज में पैदा की है। लेकिन इस असमानता की धारणा को पैदा करने की मुख्य जिम्मेवारी उन तथाकथित धार्मिक सम्प्रदायों की है जिन्होंने सामाजिक ऊँच-नीच और असमानता को अपने धर्म का अंग बनाया। उदाहरण के लिए, जितने सेमेटिक मजहब हैं—जिनमें ईसाइयत और इस्लाम प्रमुख हैं—उनकी अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णता को प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सेमेटिक मजहबों की तुलना में हिन्दू धर्म की सहिष्णुता आश्चर्यजनक है।

हिन्दू धर्म की सहिष्णुता और उदारता की जितनी प्रशंसा की जाये, थोड़ी है। परन्तु साथ ही यह कहे बिना भी नहीं रहा जा सकता कि हमारे कुछ पौराणिक पण्डितों, आचार्यों, धर्मगुरुओं और मठाधीशों ने हिन्दुत्व का जो रूप उपस्थित किया हैं, वह किसी भी रूप में आधुनिक युग में स्वीकार करने योग्य नहीं है। जिन उच्च आदर्शों की प्रशंसा करते और सारे संसार में उनकी व्याख्या करते हम नहीं थकते, उन्हीं आदर्शों के मुकाबले में जब हम इन तथाकथित कतिपय धर्म गुरुओं का समाज के लिए निर्दिष्ट व्यावहारिक आचरण देखते हैं, तब बड़ी निराशा होती है। इन धर्मगुरुओं द्वारा निर्मित सामाजिक विधि

विधान में स्त्रियों और शूद्रों को विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं, मन्दिरों में हरिजनों और गैर हरिजनों को प्रवेश का अधिकार नहीं। स्वयं मूर्ति पूजा भी वेद विरुद्ध है, इसीलिए ऋषि दयानन्द ने अपने तर्क-कुठार का उसके विरुद्ध इतनी तीव्रता से प्रयोग किया था। स्त्रियों और हरिजनों के साथ समानता के बर्ताव के विरोध में इन गुरुओं के जितने धर्मशास्त्रीय निर्देश हैं, उनका हम प्रबल विरोध करते हैं। आर्य समाज के विद्वानों के साथ पौराणिक पंडितों के इन विषयों पर न जाने कितने शास्त्रार्थ हो चुके हैं।

हमें अब भी वह घटना भूली नहीं है, जब अब से दो साल पहले केरल में सोमयाजी परिवार के पण्डितों ने बहुत बड़े पैमाने पर एक विशाल यज्ञ करवाया था। सोमयाग कैसा होता है; यह देखने के लिए विदेशों के भी अनेक प्राच्यविद् विद्वान वहाँ आये थे। परन्तु उस यज्ञ में यज्ञ कुण्ड के निकट तक किसी महिला और हरिजन को जाने की अनुमति नहीं थी। वे करीब पाँच सौ फुट दूर से ही यज्ञ को देख सकते थे। वेदमन्त्रों की ध्वनि उनके कान में न पड़ने पावे, इसकी पूरी व्यवस्था थी। परन्तु हद तो तब हो गई जब पूर्णाहुति के लिए उन सोमयाजी पण्डितों ने गोमेध के नाम पर एक गाय की बलि देने की योजना बनाई। तब भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के विजेता, मलयालम के महाकवि श्री शंकर कुरूप स्वयं उस पशुबलि के विरोध में खड़े हो गये। उन्होंने जुलूस निकाला, सभाएँ कीं और इतना जबर्दस्त आंदोलन खड़ा कर दिया कि अन्ततः उन सोमयाजी पण्डितों को गाय की बलि देने की योजना स्थगित करनी पड़ी।

सच बात तो यह है कि सृष्टि के आदि काल से वैदिक धर्म की जो अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही थी, महाभारत काल के पश्चात् वाम मार्गियों, चार्वाकों तथा अन्य अनेक मत मतान्तरों के उदय के कारण उसमें व्याघात पड़ गया। उसमें अनेक विकृतियाँ प्रविष्ट हो गईं। जिसे हम पौराणिक धर्म कहते हैं, वह वास्तव में वैदिक धर्म के

उस विकृत स्वरूप का ही पोषक है। अगर इस पौराणिक धर्म में से उन विकृतियों को निकाल दिया जाय, तो पुनः वैदिक धर्म का विशुद्ध स्वरूप उजागर हो सकता है। इसलिए ऋषिवर दयानन्द बारम्बार मनुष्य जाति का आह्वान करते थे—'वेदों की ओर चलो, वेदों की ओर चलो।" इसके अलावा ऋषि ने एक जो अद्भुत कार्य किया वह यह है कि हमारे पौराणिक पण्डित अपनी जिन विकृतियों को धर्म का अंग बताकर वेदों के नाम पर उनका पोषणा करते थे, ऋषि ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि वेद उन सब विकृतियों का विरोधी है। वेद में न मूर्तिपूजा है, न मृतक श्राद्ध है, न जन्मपरक वर्ण व्यवस्था है, न सतीप्रथा का विधान है, न ही बाल-विवाह या वृद्ध-विवाह का समर्थन है। जबकि कुछ पौराणिक पण्डित धर्म के नाम पर इन सब कुरीतियों का समर्थन करने से आज भी बाज नहीं आते।

अभी हाल में ही जगन्नाथ पुरी के—जो कि आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार प्रमुख तीर्थों में से एक है—धर्माध्यक्ष ने घोषणा की है कि भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी हिन्दू नहीं हैं, इसलिए उनको जगन्नाथ पुरी के मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। जगन्नाथ पुरी के शंकराचार्य श्री निरंजन देव तीर्थ पहले कभी रामराज्य परिषद् से सम्बद्ध रहे हैं और 'राम राज्य' नामक पत्र के सम्पादक भी रहे हैं। परन्तु कई विषयों में उनके विचार कितने दकियानूसी हैं, इसको आर्य समाज से बढ़कर और कोई नहीं जानता। धर्माध्यक्ष होने पर भी राजनीति की बू उनके मन से नहीं जाती। इसलिए किसी न किसी बहाने वे अखबारों की सुर्खियों में अपना नाम बनाये रखना चाहते हैं।

एक जमाना था जब महात्मा गांधी ने मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश के लिए आन्दोलन किया था। तब भी जगन्नाथपुरी के मन्दिर में वह आन्दोलन सफल नहीं हो सका था। श्रीमती इन्दिरा गांधी का विवाह वैदिक रीति से हुआ, उनके दोनों पुत्र संजय और राजीव के

विवाह तथा अन्य संस्कार भी वैदिक विधि से हुए हैं। इसलिए उनके लिए हिन्दू न होने का फतवा देना सरासर अनुचित है। अगर वेद के आधार को छोड़ देंगे, तो हिन्दुत्व केवल मध्यकालीन विकृतियों का पुंजमात्र रह जाएगा। इसलिए हिन्दुत्व के उसी सर्वसंग्राहक, तर्कोचित, युगानुरूप रूप को स्वीकार करना होगा जो वेद के अविरुद्ध है। उस भावना का विरोध करने वाले ये कैसे धर्माध्यक्ष हैं जो जगन्नाथ के मन्दिर को अपनी बपौती समझते हैं। और ये कैसे जगन्नाथ हैं जो मानव मानव में भेद करते हैं। हमारी मान्यता तो यह है कि किसी भी धर्मस्थान में प्रत्येक व्यक्ति को जाने का अधिकार होना चाहिए।

[२२ जुलाई १९८४ ई०]

आओ सब मिलकर सेवा करें

अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में सेना की कार्यवाही के दौरान जितना कुछ विध्वंस हुआ, वह अस्वभाविक नहीं था। सेना के जिन वीर जवानों ने हरमन्दिर की ओर से गोलियों की बौछार होते हुए भी उधर निशाना नहीं साधा, उनके धैर्य और संयम की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोड़ी है। निःसन्देह यह भारतीय सैनिकों की अनुशासन-प्रियता की निशानी है। हरमन्दिर साहब तो बच गये, पर अकाल तख्त को नहीं बचाया जा सका। क्यों नहीं बचाया जा सका—आज इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। सब जानते हैं कि भिंडरावाले और उनके अतिवादी अनुयायियों ने उसे केवल अपना निवास स्थान ही नहीं, बल्कि पूरी सैनिक मोर्चे बन्दी करके उसे अजेय दुर्ग बना रखा था। देश के विघटन और हिंसात्मक कार्यवाहियों के संचालन का वह केन्द्र बना हुआ था। जब सरकार के सामने साम-दाम के सब रास्ते बन्द हो गये तब अन्त में उसे दण्ड की नीति का आश्रय लेना पड़ा। इस प्रकार अकाल तख्त के विध्वंस की जिम्मेवारी सेना पर नहीं, बल्कि उन अतिवादियों पर है जिन्होंने बारम्बार आत्मसमर्पण के लिए सेना द्वारा आह्वान किए जाने के बावजूद सैनिकों पर अत्याधुनिक हथियारों से प्राणघातक हमला जारी रखा।

जब स्वर्ण मन्दिर में जमा मलवे को दूर करने और अकाल तख्त के दुबारा निर्माण के लिए कार सेवा की आवश्यकता अनुभव हुई, तो एक नया झगड़ा शुरू कर दिया गया। ग्रन्थियों ने कहा कि कार सेवा तब तक नहीं हो सकती जब तक स्वर्ण मन्दिर से सेना हट न जाय। और वह कार सेवा भी शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की निगरानी में ही होगी। अपनी मर्जी के अनुसार समस्त निर्माण कार्य हम स्वयं

अपने आप करवायेंगे। यह ध्यान रहे, ये वही ग्रंथी हैं जिन्होंने अतिवादियों को अकाल तख्त में शरण लेने दी, वहाँ घातक हथियार जमा होने दिए और ऐसे हरेक अनुचित कार्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे जो अकाल तख्त जैसे पवित्र धर्मस्थान में नहीं होने चाहिए थे। पहले बाबा हरवंश सिंह कार सेवा करने को रजामन्द हुए, तो उन्हें रोक दिया। उसके बाद बाबा खड़क सिंह तैयार हुए, तो उनको भी रोक दिया। और अब निहंगों के प्रमुख नेता बाबा संता सिंह ने अपने सैकड़ों अनुयायियों के साथ कार सेवा प्रारम्भ कर दी, तो इन ग्रंथियों के मन का पक्षपात सारे देश के सामने आ गया। अब यह स्पष्ट हो गया कि इन ग्रन्थियों को धर्म से कोई वास्ता नहीं, केवल राजनीति से वास्ता है। इसीलिए अब इन ग्रन्थियों ने मिलकर यह फतवा दिया है कि बाबा संतासिंह सिख नहीं हैं, सिख पंथ से उनको निकाला जाता है और किसी सिख को उनका साथ नहीं देना चाहिए। इससे पहले ये ही ग्रन्थी उनको "तनखइया" (पंथ विरोधी) करार दे चुके हैं। इन्होंने उनको कार सेवा बन्द करने का आदेश दिया था और यह भी कहा था कि पाँचों ग्रन्थियों के सामने हाजिर होकर वे अपनी सफाई दें, वे अपनी करतूतों के लिए मांफी माँगें, नहीं तो हमारे आदेश के अनुसार सजा भुगतें।

पर बाबा संता सिंह भी भले ही 'बुड्ढा दल' के नेता हों, पर जिस दृढ़ता से उन्होंने इन वेतनभोगी, अदूरदर्शी और भिंडरावाले से राष्ट्र विघटनकारी षड़यंत्रों में अन्दर से शामिल ग्रन्थियों को करारा जवाब दिया है, वह जवानों को मात करने वाला है। उन्होंने साफ-साफ कहा कि जब अकाल तख्त ही नहीं, तो उसकी ओर से हुक्मनामे का क्या अर्थ है? और फिर शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का इतिहास केवल साठ साल पुराना है, जबकि बुड्ढा दल को स्वयं गुरु गोविन्द सिंह ने स्थापित किया था। इसलिए धर्म के नाम पर राजनीति खेलने

वाले इन तथाकथित संतों के आगे वे नहीं झुके, न उनके सामने पेश हुए, न माफी मांगी और न कार सेवा बन्द की।

इसी दृढ़ता का यह परिणाम है कि अब दिन-प्रतिदिन कार सेवा में अधिक से अधिक लोग शामिल होते जा रहे हैं। भारत के प्राय: सभी उत्तरी राज्यों से हिन्दू और सिख नर-नारी हजारों की संख्या में वहाँ पहुँच रहे हैं। लगभग १० हजार लोग वहाँ पहुँच चुके हैं और हजारों लोग इस सेवा के लिए चल पड़े हैं। बाबा संतासिंह के अनुयायियों ने और स्वेच्छा से सेवा करने वाले अन्य लोगों ने स्वर्ण मन्दिर का सारा मलवा साफ कर दिया है और अब अकाल तख्त के पुनर्निर्माण की तैयारी चल रही है। लगभग ३०० राज और मिस्त्री भी अकाल तख्त की तामीर के लिए पहुँच चुके हैं।

इसी बीच अपने आपको उदार और नरम बताने वाले कुछ लोग यह नारा लगा रहे हैं कि जब शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी और ये ग्रन्थी विरोध कर रहे हैं, तो सरकार को ऐसी क्या जल्दी पड़ी है, उसे कार सेवा रुकवा देनी चाहिए। ये वही नरम दलीय लोग हैं जो भिंडरावाले के मरजीवड़ों द्वारा फैलाये गये आतंक से बचने के लिए सरकार पर दबाव डाल रहे थे कि वह पंजाब की समस्या के सम्बन्ध में जल्दी से जल्दी कुछ समझौता करे। अर्थात् उन्हें आतंकवाद में और धर्म के नाम पर राजनीतिक वर्चस्व प्राप्त करने और अन्धाधुन्ध हिन्दू और सिखों को मारने के आन्दोलन में तो कोई अनौचित्य दिखाई नहीं देता था, पर वे इस आतंकवाद की आड़ लेकर अपनी तर्कविरुद्ध मांगों को मनवाने के लिए सरकार पर दबाव डाल रहे थे। उनके मन में क्या था, यह इससे भी स्पष्ट है कि इन लोगों ने शहीदी जत्थे भेजने की केवल योजना ही नहीं बनाई, बल्कि महिलाओं को आगे करके एक नया भ्रम भी फैलाने का प्रयत्न किया। ये सब लोग मिलकर यह मांग तो करते रहे कि सेना को स्वर्ण मन्दिर से हटा लिया जाय, परन्तु इनके प्रवक्ता ग्रन्थी इस बात का कोई आश्वासन देने को तैयार नहीं

हुए कि स्वर्ण मन्दिर को पुनः इस प्रकार अतिवादियों का अड्डा नहीं बनने दिया जायेगा।

ऐसी हालत में सेना का वहाँ से हटना किसी भी प्रकार खतरे से खाली नहीं है। मलबे में से कारतूस और पिस्तौलें तो मिली ही हैं, शराब की बोतलें भी मिली है। जो अतिवादी भूमिगत हो गये हैं, वे चाहे जब अपनी विद्यमानता का सबूत देने से बाज नहीं आते। उदाहरण के लिए श्रीनगर से दिल्ली आने वाले विमान के अपहरण और भाखड़ा नहर को दुबारा तोड़ने की घटनाएँ पेश की जा सकती हैं। इन हालात में अगर सेना वापिस बैरकों में चली गई तो सैनिक कार्यवाही के कारण जो कुछ प्राप्त किया गया वह सब समाप्त हो जायेगा।

कहा जाता है कि इस प्रकार सेना और सरकार के सहयोग से कार सेवा जारी रखने पर और ग्रंथियों द्वारा उसका विरोध करने पर स्वयं सिखों में ही फूट पड़ जायेगी, उनके दो वर्ग बन जायेंगे और यह विभाजन पंथ के लिए बहुत हानिकारक होगा। सिखों को बांटना गद्दारी है, पंथ विरोधी है और सिख अगर बँट गये तो वे समाप्त हो जायेंगे। यह प्रचार भी सरासर मिथ्या है। इस समय सिखों का बंटना ही आवश्यक है। स्पष्ट रूप से सिखों के दो वर्ग बन गये हैं—एक राष्ट्रवादी हैं और दूसरे अलगाववादी हैं। जो अकाली और उनके तथाकथित प्रवक्ता ग्रंथी, धर्म की आड़ में राजनीतिक अलगाववाद को प्रश्रय दे रहे हैं, उनका, विरोध किया ही जाना चाहिए।

सच बात तो यह कि स्वर्ण मन्दिर में प्रतिवर्ष जो चढ़ावा चढ़ता है (लगलग ८ करोड़ रुपये), उस पर शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का नियंत्रण ही उन को कुत्सित राजनीति खेलने का अवसर देता है। जिस प्रकार आन्ध्र प्रदेश में तिरुपति के मन्दिर की व्यवस्था की गई है और उत्तर प्रदेश में विश्वनाथ मन्दिर की व्यवस्था की गई है, वैसी ही व्यवस्था स्वर्ण मन्दिर की क्यों नहीं की जा सकती?

देश के समस्त राष्ट्रवादियों का कर्तव्य है कि वे सब स्वर्ण मन्दिर में कार सेवा के लिए अपनी सेवाएँ देने के लिए अधिक से अधिक संख्या में उपस्थित हों। यह कार सेवा सरकार-सेवा नहीं, राष्ट्र सेवा है।

[जुलाई २९, १९८४ ई०]

पहले भारतीय, पीछे कुछ और

अब से ३६ वर्ष पहले ३ अप्रैल १९४८ को संविधान सभा में यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि भारत की राजनीति में साम्प्रदायिकता के कैंसर को प्रवेश नहीं करने दिया जायेगा, क्योंकि इसी साम्प्रदायिकता के कारण देश का विभाजन हुआ था और लाखों निरीह लोग मारे गये थे या बेघर-बार हो गये थे। तभी संविधान सभा में भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाने का फैसला किया गया था। आजादी के शुरू में ही जो संकल्प हमने किया था, इन पिछले वर्षों में वह किस तरह चकनाचूर हुआ है और धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त की बलि चढ़ी है, यह इतिहास की विडम्बना है।

उस समय उस प्रस्ताव में कहा गया था कि उचित ढंग से लोक सभा को चलाने और राष्ट्र की एकता को विकसित करने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह जरूरी है कि भारतीय जीवन के साम्प्रदायिकता को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाय। संविधान सभा का यह स्पष्ट मत था कि किसी भी साम्प्रदायिक संगठन को केवल उन कामों में सम्मिलित होने की अनुमति दी जाय जिनका सम्बन्ध वास्तविक रूप से प्रमाणित धर्म, संस्कृति, शिक्षा और समाज से हो। संविधान सभा ने यह भी कहा था कि कानूनी प्रशासनिक कदम उठाकर यह सुनिश्चित कर दिया जाय कि इसके अतिरिक्त वे संगठन किसी प्रकार की अन्य गतिविधियों में लिप्त न हो सकें।

उक्त प्रस्ताव श्री अनन्त शयनम आयंगर ने प्रस्तुत किया था, जो बाद में लोक सभा के अध्यक्ष भी बने थे। डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, ज्ञानी गुरुमुख सिंह मुसाफिर, प्रो० एन० जी० रंगा और श्री तजम्मुल हुसेन जैसे महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने इस प्रस्ताव का समर्थ किया था। उस

समय यह प्रस्ताव संविधान सभा तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत कांग्रेस कार्यसमिति में भी पास किया गया। तब तक महात्मा गाँधी शहीद हो चुके थे। कांग्रेस कार्यसमिति ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि इस देश में ऐसी किसी भी संस्था को सहन नहीं किया जायेगा जो हिंसा का प्रचार करती हो और साम्प्रदायिक घृणा फैलाती हो। उस समय संविधान सभा के एक सदस्य श्री हाजी अब्दुल सत्तार ने यह आपत्ति उठाई कि ऐसा प्रतिबन्ध केवल उन्हीं संगठनों पर लगाया जाय जो हिंसा और साम्प्रदायिकता का प्रचार करते हों। तब नेहरू जी ने आवेश में आकर जो कुछ कहा उसे एक तरह से भविष्यवाणी के रूप माना जा सकता है।

तब नेहरू जी ने कहा था—"मैं सरकार की स्थिति, इस प्रस्ताव के बारे में स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। सरकार इस प्रस्ताव का न केवल स्वागत करती है बल्कि इस बारे में वह सब कुछ करने को तत्पर है जो उसकी सामर्थ्य में हो। इस प्रस्ताव के पीछे जो लक्ष्य है, सरकार उसे हर हालत में प्राप्त करना चाहती है। स्वतन्त्र भारत की सरकार के लिए यह अनिवार्य है। अतीत में हमारे कुछ लोगों ने इस बारे में भूल करके जो गलती की है उससे हमें बहुत हानि उठानी पड़ी है।"

उन्होंने कहा—"अतीत में परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न थीं। परन्तु स्वतन्त्र होने के पश्चात, हमारे सामने इस नीति पर चलने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं है। हम देख चुके हैं कि राजनीति में साम्प्रदायिकता क्या-क्या गुल खिलाती रही है। हमें याद है कि हम कैसे-कैसे खतरों से निकलने को मजबूर हुए और किस तरह के भयंकर परिणाम हमारे सामने उभरे। इसलिये यह समझ लेना चाहिए कि धर्म और राजनीति का मिलन बहुत खतरनाक बात है। इससे कई अस्वाभाविक और अवैध रास्ते निकल आते हैं। अतः इसे समाप्त करना नितान्त जरूरी है। सामूहिक तौर पर तो यह खतरनाक है ही, बहुसंख्यक समुदाय के लिए भी कम खतरनाक नहीं है। यदि कोई अल्पसंख्यक

समुदाय इससे कोई लाभ उठाना चाहते हैं तो वे बड़ी भारी भूल में हैं। भारत के अतीत के इतिहास को दुबारा नहीं दुहराया जा सकता।''

यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि हमारे नेताओं ने साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का जो प्रयास किया, वह व्यर्थ हो गया और स्वतंत्रता के पश्चात् साम्प्रदायिकता निरन्तर बढ़ती ही चली गई। इसी साम्प्रदायिकता के कारण भारत का विभाजन हुआ था। उस समय सोचा गया था कि इस विभाजन की दुःसह पीड़ा सहने के बाद अब यह रोग अपने आप समाप्त हो जायेगा, क्योंकि भारत ने धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्र की स्थापना का दृढ़ निश्चय किया था। पर स्थिति ऐसी हो गई जैसा कि शायर ने कहा है—''

बूट डासन ने बनाया, हमने एक मजमूँ लिखा।
मुल्क में मजमूँ न फैला, और जूता चल गया॥

स्वतन्त्रता के पश्चात् जब चुनावी राजनीति के अखाड़े में बड़े-बड़े पहलवान दंगल में उतरे तो उन्होंने सदा साम्प्रदायिकता के ही दाँव-पेंच चले। सम्प्रदाय ही नहीं, चुनाव प्रायः अपनी बिरादरी के वोटों का हिसाब लगाकर लड़े गये। नाम धर्मनिरपेक्षता का लिया जाता रहा, और काम सर्वथा उसके विपरीत होते रहे। और तो और, आजादी के पश्चात् एक नई प्रवृत्ति यह पैदा हो गई कि जो भी कुछ गैर-हिन्दू है, वही धर्म-निरपेक्ष माना जाने लगा। जैसे मुसलमानों का या अन्य अल्पसंख्यकों का समर्थन करना ही धर्म-निरपेक्षता की सबसे बड़ी कसौटी बन गई। हालाँकि अल्पसंख्यकों जितना समादर और सुविधाएँ भारत में प्राप्त हैं उतनी संसार के अन्य किसी देश में नहीं हैं। परन्तु यहाँ बहुसंख्यक अर्थात् हिन्दू होना जैसे अपराध हो गया और गैर-हिन्दू होना वरदान बन गया। जब कभी मुस्लिम साम्प्रदायिकता की बात की जाती है तब तुरन्त अपनी न्यायप्रियता सिद्ध करने के लिए हिन्दुओं की हुई-अन-हुई साम्प्रदायिकता की चर्चा छेड़ दी जाती है। इस

साम्प्रदायिकता का दोष कितना हिन्दुओं पर है और कितना गैर-हिन्दुओं पर, इसका फैसला करने के लिए इससे बढ़ कर प्रमाण और क्या हो सकता है कि जहाँ-जहाँ मुसलमानों का बहुमत है वहीं साम्प्रदायिक दंगे होते हैं।

तभी नेहरू जी ने स्पष्ट किया था कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ यह नहीं है कि हमारे देश में धर्म पर आचरण नहीं होगा। उसका अर्थ केवल इतना ही है कि राज्य किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगा और सभी धर्मों के साथ समान और सन्तुलित व्यवहार करेगा। उसका अर्थ यह भी नहीं होगा कि अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई जाय। परन्तु हुआ उससे उल्टा। भारत सरकार सदा अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण की नीति पर चलती रही। कांग्रेस की तो बात ही छोड़िए, पंचमेली जनता सरकार ने भी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए अल्पसंख्यक आयोग का गठन कर डाला।

जिस तरह प्रेम से प्रेम पैदा होता है और घृणा से घृणा, वैसे ही यह सम्भव नहीं है कि एक वर्ग साम्प्रदायिकता के आधार पर अपनी सारी राजनीति चलाता जाय और दूसरा वर्ग धर्म-निरपेक्षता के व्यामोह में ही फँसा रहे। चाहे बहुसंख्यक हों, चाहे अल्पसंख्यक, उन दोनों को ही एक दूसरे की भावनाओं का आदर करना सीखना होगा। इस विषय में राजनीतिक नेता लोग गाहे-बगाहे हिन्दुओं को उपदेश देते रहते हैं, परन्तु जूता जिस जगह 'पिच' करता है, वह जगह दूसरी है। उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। यह ठीक है कि अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए, पर उसका यह अर्थ कैसे हो गया कि बहुसंख्यकों के साथ अन्याय किया जा सकता है। अंग्रेजों ने इस देश में "फूट डालो और राज्य करो" की नीति चलाई थी, परन्तु अब वह अनीति नहीं चल सकती। सत्ता हथियाने के लिए हिंसा और साम्प्रदायिकता को अब यह राष्ट्र सहन नहीं कर सकता। अतः साम्प्रदायिक

दलों पर निश्चित रूप से प्रतिबन्ध लगना चाहिए। राजनीतिक दल के रूप में उनकी मान्यता समाप्त होनी चाहिए। हम चिरकाल से यह माँग करते आ रहे हैं। अब जब लोक सभा में यह विधेयक फिर आया है, तो हमारी राष्ट्रीयता की कसौटी उपस्थित हो गई है। प्रश्न यह है हम पहले भारतीय हैं या कुछ और। आज अपने आपको पहले सिख या पहले मुसलमान कहने वाले चारों तरफ मिल जायेंगे, पर 'पहले भारतीय' कहने वाले कौन हैं—उनकी तलाश में आँखें भटक रही है।

[५ अगस्त, १९८४ ई०]

हम कहाँ से कहाँ पहुँचे ?

सन् १९४७ में १५ अगस्त के दिन जब स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने लाल किले पर तिरंगा झण्डा फहराया था तब प्रत्येक भारतवासी के मन में कितनी उमंगें, कितनी आकांक्षाएँ और कितने स्वप्न लहरा उठे थे। उस दिन "जय-हिन्द" के जयघोष के साथ हमारी वाणी दिशाओं को गुंजा रही थी और हमारे पाँव बेशक धरती पर थे, पर हमारे मन, पतंग की तरह आसमान में उड़ रहे थे। पर जैसे पतंग की डोर कटने पर वह जमीन पर गिरने लगती है, और जमीन पर गिरने से पहले उसे लूटने वाले बच्चों की भीड़ आपस में हाथापाई पर उतर आती है—वैसी ही स्थिति हमारे मनों की भी हो गई।

स्वराज्य प्राप्त करते ही हालाँकि विभाजन की पीड़ा मन को बुरी तरह शाल रही थी, परन्तु अपने देश में अपने राज्य की भावना मन-तुरंग को बेलगाम दौड़ा रही थी। हम सोचने लगे थे कि अब अपने देश में अपनी भाषा, अपना धर्म, अपना वेश, अपनी संस्कृति का बोलबाला होगा। यह एक तरह से 'स्व' के राज्य का विस्तार मात्र ही था। पर धीरे-धीरे हमने देखा कि स्वराज्य का वह अमृतोपम दूध जिस पात्र में डाला गया था उस पात्र में डालते ही वह फट गया। इसमें दोष स्वराज्य का नहीं था, दोष उस पात्र का था, जिसमें स्वराज्य का दूध डाला गया था।

धीरे-धीरे हमने अनुभव किया कि जो नौकरशाही अँग्रेजों के जमाने में सत्ता चला रही थी, वही नौकरशाही फिर तंत्र पर हावी है। जिस अंग्रेजी की गुलामी से मुक्ति-पाना स्वराज्य के आंदोलन का मुख्य अंग था, वही अंग्रेजी दिन पर दिन फिर हावी होती जा रही है। हमें

यह अनुभव करते भी देर न लगी कि हम अंग्रेजी सरकार से भले ही मुक्त हो गये, परन्तु अंग्रेजी-संस्कार से हम मुक्त नहीं हो सके। धीरे-धीरे हमारे नेता भी खद्दर के वेश में पूरी तरह अंग्रेज शासकों की नकल करने लगे। संविधान में लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्म-निरपेक्षता जैसे भारी भरकम आदर्शों का चुनाव करके हमने उनको वैधानिकता तो प्रदान कर दी, परन्तु जब उनके कार्यान्वयन का समय आया तो उन सबके स्थान पर हमने चुनावी राजनीति की शतरंज बिछी हुई देखी। चुनाव भी कैसे ? नाम जनता का, पर खेल पैसे का ! आदर्श समाजवाद का, पर प्रत्येक चुनाव का मुख्य आधार सम्प्रदाय और बिरादरी। कहाँ गया संविधान में वर्णित सम्प्रदाय-निरपेक्षता का सिद्धान्त ?

प्रत्येक भाषा की अस्मिता को पूरा करने के लिए हमने भाषावार राज्यों का निर्माण किया, पर ऐसा लगता है कि संस्कृत कहावत के अनुसार—"विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्"—गणेश जी की मूर्ति बनाते-बनाते हम बन्दर की मूर्ति बना बैठे। भाषावार राज्यों के निर्माण के पश्चात अपने-अपने प्रदेश की भाषाओं के प्रति आग्रह जितना बढ़ा, उससे अधिक बढ़ा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्रति विद्वेष और प्रादेशिक भाषाओं के इस संघर्ष में अंग्रेजी फिर ज्यों की त्यों महारानी बन के अपने मानस-पुत्रों से अपना चरण-चुम्बन करवाती रही। अपने प्रदेश से इतर भाषाभाषियों के प्रति जैसा व्यवहार किया जाने लगा, वैसा तो कोई किसी परदेशी के साथ भी शायद ही करे। महाराष्ट्र में गैर-मराठी भाषी और कर्नाटक में गैर-कन्नड़ भाषी लोगों के विरुद्ध जिस प्रकार के हिंसक आंदोलन हुए हैं, वह हमारी किस मानसिकता की निशानी है ? आजादी से पहले जिस प्रेम और उत्साह से हमने समस्त भारतवासियों के अन्दर एक राष्ट्र का वासी होने और सबके समान सुख-दुख की भावना जगाई थी, अब दिन-प्रतिदिन वह दूर होती चली जाती है।

स्वराज्य का असली अर्थ तो होता है—अपने ऊपर अपना राज्य।

अपने राज्य का अर्थ है अपनी मानसिक विकृति के ऊपर नियंत्रण—जो मेरे लिये बुरा है, वह औरों के लिए भी बुरा है और जो अन्य सबके लिये आनन्ददायक है वह मेरे लिए भी आनन्ददायक होना चाहिए—इसे जानना और मानना और 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्—' की भावना ही स्वराज्य के सुपात्र होने का प्रमाण है। केवल शासन के परिवर्तन का अर्थ स्वराज्य नहीं। पर हमने स्वराज्य का अर्थ स्वच्छन्दता समझ लिया और अपनी मानसिक विकृतियों को बेलगाम छोड़ दिया। स्वच्छन्दता तो कलाहीन जीवन का नाम है, जबकि स्वराज्य ऐसे कलापूर्ण जीवन का द्योतक हैं जिसमें संगीत की लयताल-युक्त मधुर स्वर लहरी समाविष्ट हो। पर हम संगीत के नाम पर बेसुरा राग अलापने लगे। धीरे-धीरे यह बेसुरापन इस प्रकार हमारे जीवन का अंग बन गया और प्रादेशिकता तथा संकीर्णता के मोह में हम इतना बह गये कि हमारे सामने राष्ट्र के विघटन की समस्या उत्पन्न हो गई।

प्रान्तों की स्वायत्तता के नाम पर खालिस्तान की माँग की जाने लगी और उसकी पूर्ति के लिए भिंडरावाले जैसे तथाकथित सन्त पैदा हो गये तब पता लगा कि हम किस विघटन के कगार पर पहुँच चुके हैं। वह तो समय पर सैनिक कार्यवाही हो गई इसलिए राष्ट्र एक भयंकर विपत्ति से बच गया, अन्यथा अपने स्वार्थों के लिए भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता की मर्यादा को पाँवों तले कुचलकर देश को खंड-खंड करने के लिये, परोदय-असहिष्णु विदेशियों की शह पर जो षड्यंत्रमं रचा गया था उसके सफल होने में सन्देह नहीं था। शायद यह हमारी उस आंतरिक जिजीविषा का परिणाम है जो विभिन्न युगों में भारतीय राष्ट्र के सम्मुख होने वाले एक से बढ़कर एक संकटों का मुकाबला करने का संकल्प प्रदान करती है। हम उस अपनी प्राचीन धरोहर पर गर्व कर सकते हैं, परन्तु दिन-रात खुले हाथों उस धरोहर को लुटाने से भी बाज नहीं आते।

इन सब संकटों से बढ़कर एक और संकट है जिसे हमने स्वेच्छा से

अपने जीवन में पाल लिया है और वह है चरित्र का संकट। हम आदर्शों की जितनी अधिक दुहाई देते हैं, व्यावहारिक दृष्टि से हम अपने समाज-बोध और राष्ट्र-बोध के प्रति उतने ही दीनहीन और विकलांग हैं। राजनीति में से तो नीति निकल ही गई, हमारे जीवन में से भी नैतिकता का लोप हो गया। जिस समाज में भ्रष्टाचार को शिष्टाचार समझा जाने लगा हो, उस समाज से किसी प्रकार की नैतिकता की आशा करना आकाश-कुसम चुनना है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ग्रेशम का नियम यह कहता है कि – खोटा सिक्का, खरे सिक्के को अपदस्थ कर देता है। ठीक वैसे ही दुर्जन लोग समाज में से सज्जनों को निष्कासित कर देते हैं।

यह ठीक है कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् देश में बहुत समृद्धि आई है पर वह समृद्धि जिस प्रकार चन्द व्यक्तियों की तिजोरियों तक सीमित रह गई है उसके कारण काले धन की एक समानान्तर सरकार देश में निरन्तर गतिशील है। राजनीतिक नेताओं की इस बेशर्मी को क्या कहा जाय कि जनता से वाहवाही लूटने के लिये तस्कर-सम्राटों और आयकर चोरों को गिरफ्तार किया जाता है, पर अपनी राजनीतिक सुविधाओं के लिये उन पर कोई मुकदामा चलाए बिना और जनता को जानकारी दिए बिना चुपचाप छोड़ भी दिया जाता है।

हमारी समृद्धि किस दिशा में जा रही है इसको देखना हो तो सरकार का यह निश्चय भले ही संसार को चकित कर देने वाला सिद्ध हो कि प्रतिदिन एक नया दूरदर्शन केन्द्र भारत में खोला जा रहा है, परन्तु इससे न तो जनता की बढ़ती बेरोजगारी दूर होती है और न ही गाँवों में पेयजल की समस्या हल होती है। इसी समृद्धि की गलत दिशा का परिणाम है कि एक तरफ भरे पेट वाली अभिजात वर्ग की महिलाएँ फैशन के तौर पर संसार के 'प्राचीनतम व्यवसाय' को अपनाने में कोई लज्जा अनुभव नहीं करतीं, और दूसरी ओर ग्रामीण औरतों को अपने पेट की भूख शान्त करने के लिए मजबूरी में अपने तन का सौदा करना पड़ता है।

हमारा स्वराज्य हमसे पूछ रहा है कि मेरा उचित उपयोग कब होगा? क्या 37वें स्वतन्त्रता दिवस पर आत्म-निरीक्षण करके हम इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे? [अगस्त १२, १९८४ ई०]

अक्ल कब आयेगी ?

स्वतन्त्रता दिवस हमारे लिए आत्म निरीक्षण का पर्व है। इस दिन जहाँ हम अपने बलिदानी वीरों का स्मरण करते हैं वहाँ साथ ही अपने अन्तःकरण में पैठकर हमको यह भी विचार करना चाहिए कि हमने अपने देश की आजादी के लिए सर्वस्व लुटाने वाले उन बलिदानियों के स्वप्नों को कहाँ तक हमने पूरा किया है। कभी-कभी बाहर की चकाचौंध ऐसे भुलावे में डाल देती है कि हम देश की परिस्थितियों का सही आकलन नहीं कर पाते।

निःसन्देह इस बार स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर देश के प्रत्येक निवासी को पंजाब में हुई त्रासदी का स्मरण आया होगा। परन्तु इस विषय में भी हम यह समझते हैं कि देश के विभिन्न स्थानों पर जो विद्रोहात्मक स्थिति पैदा हो रही है, उसी का चरम विस्फोट पंजाब में हुआ था। भारत सरकार को समय पर अक्ल आ गई और उसने कार्यवाही करके उस भयंकर विस्फोट को चकनाचूर कर दिया। परन्तु इसकी छिट-फुट चिनगारियाँ अभी बाकी हैं। किसी भी राष्ट्र के आन्तरिक विद्रोह को समाप्त करना किसी समर्थ सरकार के लिए कठिन नहीं होता। परन्तु जब बाहर की शक्तियाँ उस अन्दरूनी विद्रोह को प्रोत्साहन देने में लगी हों, तब समर्थ सरकार को भी परेशानी का सामना करना ही पड़ता है।

हमारे अकाली बन्धुओं को विश्वास था कि पाकिस्तान उनकी सहायता पर आयेगा, परन्तु वैसा नहीं हुआ और न ही वैसा होने की सम्भावना है। पाकिस्तान यहाँ-वहाँ फुलझड़ियाँ तो छोड़ सकता है परन्तु भारत पर आक्रमण करने का क्या परिणाम हो सकता है, इसको उससे अधिक अच्छी तरह और कोई नहीं जानता। क्या पाकिस्तान

को दिखाई नहीं देता कि सोवियत रूस की सेनाएँ उसकी सीमा पर खड़ी हैं और उसकी सैन्य शक्ति इतनी है कि अमेरिका की सारी सैनिक सहायता के बावजूद वह चन्द दिनों में ही इस्लामाबाद के सारे सपनों को धूलि-धूसरित कर सकता है। इसलिए जनरल जिया का जब तक दिमाग पूरी तरह खराब न हो जाय तब तक वे इस प्रकार की हिमाकत करने की बात नहीं सोच सकते।

परन्तु यह भी सही है कि भारत के अन्दर जो पाकिस्तान समर्थक तत्व हैं उनको देखकर पाकिस्तानी सैनिकों के अन्दर भी उचंग उठती है कि क्यों न एक बार बंगला देश का बदला लेने की आजमाइश कर ली जाय। परन्तु सैनिक तानाशाह यह भी जानते हैं कि ऐसा करना सोवियत रूस को स्वर्णिम अवसर प्रदान करना होगा जिसके लिए शायद अफगानिस्तान के बाद वह प्रतीक्षा ही कर रहा है। इसलिए उग्रवादियों की सहायता के लिए पाकिस्तानी इरादों पर चिन्तित होने की बहुत आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

मुख्य मुद्दा यह है कि उग्रवादी अकाली किस प्रकार इतने स्वार्थी, संकीर्ण, साम्प्रदायिक और देशद्रोही बन गये कि सरासर गलत और असंगत माँगों को लेकर जीने-मरने को तैयार हो गये। जब किसी भी जमात की ओर से अपना अलग राष्ट्र निर्माण करने की माँग उठती है तो ऐसी माँग करने वाला वर्ग चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, परन्तु सारे राष्ट्र के लिए इस चिन्ता का अवसर तो प्रस्तुत कर ही देता है कि अपने ही देश-वासी और अपने ही रक्तमांस से बने ये बन्धु इस प्रकार राष्ट्र द्रोह पर कैसे उतर आये। इसकी असली जिम्मेवारी जहाँ अकाली नेताओं की है वहाँ देश के अन्य राजनैतिक दलों के नेताओं की भी कम नहीं है। खास तौर से अनैतिकता को प्रश्रय देने वाले और भ्रष्टाचार में लिप्त तथा राजनीति के नाम पर सब प्रकार के अकरणीय काम करने वाले हमारे राष्ट्र के कर्णधार जब आम जनता को देश के लिए कुर्बानी करने का और राष्ट्रभक्ति का उपदेश देते हैं तो जनता

को उनकी विश्वसनीयता पर सन्देह होता है। पानी हमेशा ऊपर से नीचे को जाता है। इसी तरह समाज में नैतिकता के जो मानदण्ड नेता लोग स्थापित करते हैं वही मानदण्ड जनता में प्रचलित होते हैं। इसीलिए महाभारतकार ने बड़े साफ शब्दों में यह घोषणा की है—

राजा कालस्य कारणम्

—अर्थात् राजा ही काल का कारण होता है। इसी बात को नीतिकारों ने कहा—

यद्-यद् आचरति श्रेष्ठः तद् तदेव इतरो जनः।

—अर्थात् श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं, सामान्य जन उसी का अनुकरण करते हैं। जब सारा देश ही भौतिकता और स्वार्थ-परायणता के रंग में रंगा हो तो आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की परवाह कौन करेगा ?

हमेशा ऊँचाई पर चढ़ने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और नीचे उतरने के लिए उतना प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार अच्छाई प्रयत्न-साध्य है और बुराई अनायास मनुष्य को अपनी ओर खींच ले जाती है। अगर सारे देश के वातावरण में राष्ट्रीयता की वह लहर न हो जो आजादी के संघर्ष के दिनों में थी, तो जिस आधुनिक पीढ़ी ने संघर्ष के वे दिन देखे ही नहीं और केवल स्वार्थ-परायण राजनीति के ही दिन देखे, उस पीढ़ी के मन में राष्ट्रीयता की वह लहर कहाँ से आयेगी ? हमारी राष्ट्रीयता का तकाजा है कि हम राष्ट्र के लिए कुर्बानी करने वालों को अपने राष्ट्रीय जीवन में उचित सम्मान का स्थान दें जिससे कम से कम उनको उनकी सन्तान तो खब्ती न समझे।

भारत सरकार ने आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने वाले लोगों को स्वतन्त्रता सेनानी मानकर और उनके लिए पेंशन की व्यवस्था करके अपने कर्तव्य का पालन किया है। पर यहाँ भी उससे एक बहुत बड़ी भूल हुई है जिसकी ओर ध्यान खींचना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। भारत सरकार ने सर्वथा साम्प्रदायिकता पर आधारित मोपला काण्ड में हिस्सा लेने वाले आन्दोलनकारियों को तो स्वतन्त्रता सेनानी

मान लिया, पर विशुद्ध राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित तथा कट्टर मतान्ध हैदराबाद रियासत के निजाम उस्मानअली से टक्कर लेने वाले आर्य सत्याग्रहियों को स्वतन्त्रता सेनानी मानने से इन्कार कर दिया। जिस निजाम स्टेट ने तेलगु भाषी जनता पर जर्बदस्ती उर्दू थोपी थी, अचकन और तुर्की टोपी को रियासती पोशाक निर्धारित करके प्रत्येक हिन्दू को भी उसे पहनने को बाध्य किया था, जिसने हिन्दुओं के मन्दिरों और पाठशालाओं के साथ भेद-भाव किया था और जिसकी हुकूमत में इत्तिहादुल-मुस्लमीन जैसी खतरनाक संस्था पल रही थी, उस रियासत के हाकिम से लोहा लेना कोई आसान बात नहीं थी। उस समय के कासिम रिजवी की तुलना इस युग के भिंडरावाले से ही की जा सकती है।

आर्यसमाज ने सन् १९३९ में अहिंसात्मक सत्याग्रह करके जो आदर्श उपस्थित किया उसे देखकर स्वयं सत्याग्रह के जनक महात्मा गांधी भी दाँतों तले अँगुलि दबाए बिना नहीं रह सके। स्वयं पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने भी आर्यसमाजियों की इस दिलेरी पर हैरानी के साथ अपनी प्रशंसा के पुष्प चढ़ाए। आजादी के तुरन्त बाद हैदराबाद में पुलिस ऐक्शन के प्रणेता सरदार पटेल को सार्वजनिक रूप से यह कहने को बाध्य होना पड़ा कि यदि आर्यसमाजियों ने वह सत्याग्रह करके भूमि तैयार न कर दी होती, तो हैदराबाद रियासत की समस्या को इतनी आसानी से सुलझाया नहीं जा सकता था। वह समस्या कितनी थी, इसका कुछ अन्दाज हाल में ही अमृतसर में हुए 'ब्ल्यू स्टार आपरेशन' से लगाया जा सकता है।

एक और विसंगति यह है कि तेलगु देशम और कर्नाटक जैसे राज्यों ने तो हैदराबाद सत्याग्रह के सत्याग्रहियों को स्वतंत्रता सेनानी स्वीकार कर लिया, परन्तु केन्द्रीय सरकार के कानों पर आज जूँ नहीं रेंगी। क्या अब भी उसे अपनों और परायों की पहचान नहीं?

भारत सरकार को अक्ल कब आयेगी?

[१२ अगस्त, १९८४ ई०]

राम की राम से भिड़न्त

३७ साल के बाद इस बार १५ अगस्त के स्वतंत्रता दिवस पर आन्ध्र प्रदेश में एक ऐसा नाटक हुआ जिसे देखकर सारा देश स्तब्ध रह गया। इतिहास में राम रौर रावण का युद्ध विख्यात है। विज्ञ लोग कहा करते हैं—"राम रावणयोर युद्ध राम रावणयोरिव"—अर्थात् राम और रावण के युद्ध की तुलना किसी और युद्ध से नहीं की जा सकती। परन्तु इस वार के संघर्ष में राम और रावण नहीं थे, दोनों ओर राम ही राम थे। यह भिड़न्त भी अपने आप में अनुपम थी। उसकी तुलना शायद अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी। एक तरफ थे आन्ध्र प्रदेश के राज्य-पाल रामलाल और दूसरी ओर थे आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री रामाराव। दोनों ओर राम ही राम। बेचारे रामाराव अपना आपरेशन करवाने अमरीका क्या गये कि भाग्यनगर की छलिया राजनीति ने उनका भाग्य ही बदल दिया।

रामाराव के मंत्री मण्डल में मुख्यमंत्री के पश्चात् प्रमुखता-प्राप्त वित्तमंत्री भास्कर राव ने रामलाल की सेवा में हाजिर होकर अपने साथ ६१ विधायक होने का दावा पेश किया। कांग्रेस विधायक दल के ५७ सदस्यों ने, जो रामाराव को अपदस्थ करने वाले किसी भी व्यक्ति का समर्थन करने को तैयार बैठे थे, साथ में अपना कन्धा लगाया और १५ अन्य विधायकों ने इस स्वर्णिम अवसर का लाभ उठाने के लिए सहर्ष अपने सहयोग का हाथ बढ़ाया। इस प्रकार १६३ की संख्या पूरी होते ही राज्यपाल ने अपना फतवा दे दिया कि भास्कर राव को बहुमत प्राप्त है इसलिए उनको मुख्यमंत्री बनाया जाता है। जब लंका के इस विभीषण काण्ड का रामाराव को पता लगा, वे भी अपने समर्थक विधायकों की सेना लेकर राजभवन पहुँचे। परन्तु राज्य-

पाल रामलाल क्योंकि भास्करराव के दावे पर आश्वस्त थे, इसलिए उन्होंने रामाराव की बात पर कान नहीं दिया। रामाराव ने कितना ही कहा कि बहुमत का निर्णय करने के लिए असली स्थान विधान सभा है, आप दो दिन के अन्दर ही विधान सभा का अधिवेशन बुला लीजिए और उसमें बहुमत का निश्चय करके दूध का दूध और पानी का पानी कर लीजिए। परन्तु बादशाह के प्रति अपनी वफादारी में अन्य सब दरबारियों के रिकार्ड को तोड़ने वाले रामलाल ने रामाराव और उनके समर्थकों को गिरफ्तार कर लिया और रामाराव को बर्खास्त करके भास्करराव को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलवा दी।

आन्ध्र प्रदेश में पहली बार कांग्रेस को धूल चटाने वाले तेलगुदेशम पार्टी के अभिनेता से नायक और सूत्रधार बने रामाराव, जो विभिन्न देवताओं और अवतारों का अभिनय करते-करते अपने आपको किसी अवतारी पुरुष से कम नहीं समझते, इतनी आसानी से अपनी पीठ जमीन से क्यों लगने देते। अपनी नाटकीय कुशलता का उन्होंने यहाँ भी परिचय दिया और आन्ध्र प्रदेश के रणक्षेत्र से ह्वील चेयर पर पलायन कर भारत की राजधानी में आकर राष्ट्रपति के सामने गुहार लगाई। वे अपने साथ १६२ विधायकों को लाये थे जिनमें से हरेक के हाथ में उसका परिचय पत्र भी था। उन्होंने राष्ट्रपति से आग्रह किया कि इन विधायकों की संख्या गिनकर अपनी तसल्ली कर लीजिये और फिर देखिए कि आपके एक सामन्त सेनापति ने किस प्रकार कमर के नीचे वार करके कुश्ती के नियमों का उल्लंघन किया है। परन्तु राष्ट्रपति ने गिनने से इन्कार कर दिया। लोकसभा में प्रधान मंत्री ने भी बड़ी मासूमियत से कहा कि मुझे तो इस सारे काण्ड का पता ही अखबारों से लगा, इसलिए मेरे हाथ तो डिटोल से धुले हुए हैं। कौन अल्प मत में और कौन बहुमत में—इसका फैसला आन्ध्रप्रदेश की विधान सभा ही करेगी।

जब रामाराव दिल्ली के दरबार में अपने समर्थक विधायकों का

प्रदर्शन कर रहे थे, तब उसी समय भास्करराव ने भी आन्ध्रप्रदेश में राज्यपाल के सामने अपने समर्थक १६३ विधायक उपस्थित कर दिये। इस प्रकार रामाराव और भास्करराव दोनों के समर्थकों की मिलाकर संख्या ३२५ बैठती है, जबकि राज्य सभा में विधायक कुल २९५ हैं। ये तीस अतिरिक्त विधायक कहाँ से कैसे आ गये, इसका जवाब न भास्करराव के पास है, न रामाराव के पास। इसका जवाब सिनेमा घर में पर्दे पर दिखाई जाने वाली फिल्में ही दे सकती हैं। आकाश में छिपे किसी देवता ने अपना हाथ हिलाकर जादू का मंत्र पढ़ा और ३० नये विधायक सशरीर धराधाम पर भेज दिये और उनको यह चमत्कारी शक्ति प्रदान कर दी कि तुम एक ही समय दिल्ली और हैदराबाद दोनों जगह उपस्थित रह सकते हो। जब सिने-लोक में ऐसे चमत्कार रोज होते हैं तो एक चमत्कार बाहर के लोक में भी क्यों न हो!

आन्ध्र प्रदेश के इस नाटक से विपक्षी दलों में जान पड़ गई। गरम लू से झुलसे कुकुरमुत्तों पर जैसे बारिश के छींटे पड़ने से रौनक आ जाती है, वैसे ही सब विपक्षी दल तनकर खड़े हो गये और दिल्ली के रामलीला मैदान में विशाल सभा करके उन्होंने पुनः सन् १९७५ का दृश्य उपस्थित कर दिया। उस समय के हीरो बाबू जयप्रकाश थे और इस समय के हीरो नतारा रामाराव। परन्तु दोनों नायकों में एक विशेष अन्तर भी है। जयप्रकाश सत्ता के आकांक्षी नहीं थे। वे तो कांग्रेस के विकल्प के रूप में भ्रष्टाचार-मुक्त समग्र क्रान्ति का जीवन दर्शन लेकर जनता जनार्दन के समक्ष उपस्थित थे। अब कांग्रेस के विकल्प के लिए न तो वैसे सिद्धान्तों की कहीं चर्चा थी और न विपक्षी दल का कोई नेता सत्ता के मोहपाश से मुक्त था। फिर भी इस सारे नाटकीय काण्ड ने बिजली का एक झटका तो दिया। बिजली का झटका हमेशा क्षण स्थायी होता है। उस एक क्षण में ही वह आर या पार करने की सामर्थ्य रखता है। वह क्षण बीत जाने के बाद झटके की केवल त्रासदायी स्मृति ही शेष रह जाती है। इस झटके को विपक्षी दल

कितना स्थायित्व प्रदान कर पाते हैं और भविष्य में कितना भुना पाते हैं, यह भविष्य ही बतायेगा।

हम शुरू से ही अनुभव कर रहे थे कि इस नियमविरुद्ध खेल में रैफरी के पक्षपात से मिलने वाली जीत पर खेल सही-सही जम गया तो वाह-वाह, और अगर खेल बिगड़ गया तो बेचारे राज्यपाल की खैर नहीं। तुरन्त उसी को बलि का बकरा बनना पड़ेगा। वही हुआ भी। जैसा सोचा था, वैसा खेल जम नहीं पाया। और चौहान कुलदीपक, लकड़ी चोरी के काण्ड में हिमाचल के मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा देने को बाध्य होकर आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल का पद प्राप्त करने वाले, श्री रामलाल को इस पद से भी इस्तीफा देकर अपनी वफादारी की कीमत चुकानी पड़ी। इससे भी क्या फर्क पड़ता है। नीतिकार कह गये हैं—"कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः"—विपरीत आचरण करने पर भी जो प्रिय है वह तो प्रिय रहेगा ही। ऐसी वफादारी से तो प्रिय पात्र होने की पात्रता और बढ़ती ही है, घटती नहीं।

राम और राम की इस भिड़न्त में पहले एक राम हारे थे, तो अब उसी राम ने दूसरे राम को पटकनी खिला दी। एक भिड़न्त समाप्त हुई। इसका अगला सीन आन्ध्र प्रदेश की विधान सभा में देखिए। वह शो कब होगा, इसकी तारीख अभी घोषित नहीं हुई है।

दो रामों की इस भिड़न्त में बेमौत मारा गया बेचारा लोकतंत्र। किस तरह रामाराव के चरणों में लोटने वाले विधायकों ने एक रात में ही पासा पलट के भास्कर राव का समर्थन शुरू कर दिया, यह देखकर रामाराव भी चौंक गये। अब दोनों ओर से पूरी किलेबन्दी और घेराबन्दी है। एक दूसरे के किले में सेंध लगाने की कोशिश की जा रही है। देखना यह है कि विधायक गण लोकतंत्र की गरिमा स्थापित करने के लिए अपने चारित्रिक आदर्श का मानदण्ड प्रस्तुत करेंगे या १५-२० लाख रुपए की अनायास प्राप्त होने वाली राशि से जन्म भर ऐश करने का रास्ता अपनाकर 'आया राम गया राम' के अभियान में नया आयाम जोड़ेंगे। [२ सितम्बर १९८४ ई०]

मनः स्थिति नहीं बदली

स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई को तीन मास बीत चुके हैं। इस बीच यह आशा थी कि सेना अपनी बैरकों में चली जाएगी और पंजाब में कानून और व्यवस्था की दृष्टि से शान्ति स्थापित हो जाएगी। सरबत खालसा के सम्मेलन में जिस तरह लोग उमड़ कर आए थे उससे यह आशा बँधी थी कि अब उग्रवादियों के समर्थक तत्त्वों को शायद कुछ अपनी स्थिति का सही भान हो और वे हिंसा का मार्ग छोड़कर लोकतंत्र के अनुरूप वैधानिक रास्ता अपनाएँ।

अमृतसर में २ सितम्बर को हुए विश्व सिख-सम्मेलन में विदेशों से लोग नहीं आए, जैसी कि घोषणा की गई थी। सरकार चौकसी के कारण भी स्थिति काफी नियन्त्रण में रही। फिर भी ६० हजार के लगभग लोगों का पहुँच जाना अपने आप में छोटी बात नहीं है। खालिस्तान-समर्थक लगभग दो हजार लोगों ने खालिस्तान का झंडा भी फहराया, पर वे सम्मेलन के संयोजक ग्रन्थियों को अपने पक्ष में नहीं कर सके। इस सम्मेलन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अब ग्रन्थियों में सिख जनता को काबू में रखने की शक्ति नहीं रही। इस सम्मेलन का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि उसमें राष्ट्रपति जैसे निष्ठावान् और सिखमत के जानकार होने के कारण 'ज्ञानी' कहलाने वाले राष्ट्रपति ज्ञानी जैल-सिंह को 'तनखैया' अर्थात् पंथ-विरोधी घोषित किया गया। उन पर आरोप यह लगाया गया कि वे स्वर्णमन्दिर में छाता लगाकर आये जबकि यह सिख परम्पराओं के विरुद्ध है। इससे ग्रन्थियों की क्षुद्र-हृदयता का ही परिचय मिलता है। राष्ट्रपति को किसी भी विवाद में घसीटना सर्वथा अनुचित है।

सहयोगी 'हिन्दुस्तान' ने अपने 3 सितम्बर के अग्रलेख में 'सिख सम्मेलन से निराशा' शीर्षक से लिखा है—

"अमृतसर में हुए विश्व सिख सम्मेलन से उन सभी सिखों को घोर निराशा हुई है जो यह आशा लगाए हुए थे कि इस आयोजन से सरकार और अकालियों के बीच चला आ रहा तनाव समाप्त होगा। न तो इस सम्मेलन ने हिंसा और आतंक की भर्त्सना की और न ही यह आश्वासन दिया कि भविष्य में स्वर्णमन्दिर और अन्य धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग नहीं होने दिया जाएगा। इसके विपरीत इस सम्मेलन ने कुछ ऐसे प्रस्ताव पास किए हैं जिनसे केवल सिख समाज को ही नहीं, सारे देश को बड़ा आघात पहुँचा है। राष्ट्रपति श्री जैल सिंह और केन्द्रीय संसदीय मन्त्री श्री बूटासिंह को तनखैया (धर्म-विरोधी) घोषित कर उनको प्रायश्चित के लिये अकाल तख्त के सामने पेश होने के लिए कहा गया है। राष्ट्रपति पर आरोप है कि उन्होंने सेना को स्वर्णमन्दिर परिसर में प्रवेश करने की इजाजत दी और श्री बूटासिंह पर आरोप लगाया है कि वह स्वर्ण मन्दिर परिसर से सेना हटाने के बारे में हुए समझौते से मुकर गये। वस्तुस्थिति यह है कि सरकार ने सेना भेजकर स्वर्ण मन्दिर की पवित्रता को बचाया है और उन राष्ट्र-विरोधी तत्वों की साजिश को नाकाम किया है जो धर्म के नाम पर पंजाब को देश से अलग करना चाहते थे।

"श्री जैलसिंह सिख धर्म के सच्चे अनुयायी हैं और गुरु नानक तथा गुरु गोविन्द सिंह की शिक्षाओं के अनुसार प्रेम और भाईचारे का प्रचार करते रहते हैं। सारा देश राष्ट्रपति जी के प्रति आदर और सम्मान की भावना रखता है। ऐसे सम्माननीय व्यक्तित्व पर कीचड़ उछाल कर कुछ गुमराह अकालियों ने अपना दिमागी दिवालियापन ही जाहिर किया है। वस्तुतः राष्ट्रपति का अपमान सारे देश का अपमान है। सभी राजनीतिक दलों और राष्ट्रप्रेमियों को इस अभद्र व्यवहार की कड़े से कड़े शब्दों में निन्दा करनी चाहिए।

"सम्मेलन ने ऐसा कोई कदम नहीं उठाया है जिससे स्थिति सामान्य होने में सहायता मिले। दरअसल, खालिस्तान समर्थक कुछ विदेशी शक्तियाँ भारत में अव्यवस्था पैदा करना चाहती हैं। सरकार ने कड़े सुरक्षा प्रबन्ध करके इस योजना को विफल कर दिया। आयोजकों ने घोषणा की थी कि सम्मेलन केवल धार्मिक माँगों तक ही अपने को सीमित रखेगा। शनिवार को गुरुद्वारा बाबा दीपसिंह में खालिस्तान और भिंडरावाले के समर्थन में जो नारे लगाए गए उससे जाहिर है कि अभी भी आतंकवादी और पृथक्तावादी तत्व सक्रिय हैं। शायद इन तत्वों के दबाव के कारण ही सम्मेलन खालिस्तान और आतंकवाद के विरुद्ध कोई प्रस्ताव पास नहीं कर सका।

"सम्मेलन ने एक प्रस्ताव के जरिये सरकार को अल्टीमेटम दिया है कि ३० सितम्बर तक स्वर्णमन्दिर परिसर से सेना हटा ली जाए, अन्यथा मुक्ति के लिए आंदोलन किया जायेगा। इस सम्बन्ध में सरकार कई बार अपनी नीति स्पष्ट कर चुकी है। सरकार शुरू से ही यह कहती आ रही है कि अगर अकाली नेता यह विश्वास दिला दें कि धार्मिक स्थानों में न तो हथियार जमा किये जाएँगे और न ही अपराधियों को शरण दी जायेगी, तो सरकार सेना हटा सकती है। गृहमंत्री श्री नरसिंह राव ने हाल ही में फिर इस बात को दोहराया है। दुर्भाग्य से, पंजाब में अभी तक स्थिति सामान्य नहीं हो पाई है। तोड़फोड़, विमानों के अपहरण और हिंसा की घटनाएँ जारी हैं। जाहिर है कि उग्रवादी तत्व सक्रिय हैं। अफसोस है कि सम्मेलन ने इन आपत्तिजनक गतिविधियों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। इससे तो यही प्रकट होता है कि अकाली नेताओं की उग्रवादी तत्वों के साथ साँठगाँठ है और वे सरकार के साथ टकराव का रास्ता अपनाना चाहते हैं। सरबत खालसा के मुकाबले में आयोजित यह सम्मेलन बहुत फीका रहा। अकाली नेताओं को विवेक और समझदारी से काम लेना चाहिए। बाहरी शक्तियों के इशारे पर चलना छोड़ कर उन्हें पंजाब

और देश के हित को ध्यान में रखना होगा। पृथकतावादी और आतंकवादी तत्वों से अलग-अलग होकर ही अकाली दल अपनी खोई हुई साख फिर कायम कर सकता है।"

इससे यह स्पष्ट है कि ग्रंथियों की या अकाली दल के उग्रवाद-समर्थकों की अभी तक मनः स्थिति नहीं बदली है। फिर भी हम निराश नहीं हैं। हम यह विश्वास लेकर जीते हैं कि असत्य कुछ समय के लिए भले ही अपनी चमक दिखाता रहे, पर अन्त में सत्य की विजय होती है। भारत की संस्कृति में राष्ट्रीय एकता की जो प्रसुप्त भावना छिपी है, जिस तरह इतिहास के अनेक झंझावात उसे नहीं मिटा सके, उसी तरह यह वर्तमान झंझावात भी नहीं मिटा सकेगा। भ्रान्त लोगों को अक्ल आएगी और राष्ट्रीय ऐक्य को छिन्न-भिन्न करने के बजाय समस्त राष्ट्रीय शक्तियाँ मिल कर विच्छिन्न सूत्र को फिर जोड़ेंगी।

[सितम्बर ९, १९८४ ई०]

गोधन : राष्ट्र धन

एक छोटे देहाती किसान की कल्पना करिये जिसके पास तीन-चार बच्चे हैं, पत्नी और एकाध भूखे जानवर हैं। उसके पास भूमि का छोटा-सा टुकड़ा है और वह बैल खरीदने में असमर्थ है। पति-पत्नी दिन-रात मेहनत करते हैं, पर अपने बच्चों के लिए दूध तो क्या छाछ भी नहीं जुटा सकते ! रासायनिक खाद, नये उन्नत किस्म के बीज और ट्रैक्टर की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकता। अपने बच्चों को न वह पाठशाला भेज सकता है और न ही उनके समुचित विकास के लिए पौष्टिक भोजन दे सकता है। उसके सत्यानाश के लिए सरकार ने राजस्व-प्राप्ति के नाम पर एक देशी शराब की दुकान उसके पड़ोस में खोल दी है, जिसके आकर्षण से बचना उसके लिए मुश्किल है। यदि वह भूमिहीन मजदूर है तो उसकी दुर्दशा का वर्णन करना और भी कठिन है। तब उसे वर्ष के आधे दिनों में ही काम मिल पाता है, बाकी समय में उसके पास अपने गुजारे का कोई साधन नहीं रहता। तब क्या तो वह मेहनत मजदूरी करने के लिए शहर की ओर भागता है या किसी तरह गाँव में ही बड़ी मुश्किल से अपने दिन गुजारता है।

अब तक हमारे जितने विकास-कार्यक्रम और पंचवर्षीय योजनाएँ बनी हैं, वे सब भी देहाती किसान की इस हालत को नहीं बदल सकीं। बड़े किसानों की बात छोड़ दीजिए। हरित क्रान्ति का जो भी कुछ लाभ मिला है वह केवल उन बड़े किसानों को ही मिला है, जिसकी संख्या देश में १० प्रतिशत से अधिक नहीं है। हमारा देश कृषि-प्रधान कहलाता है और इसकी ७३ प्रतिशत आबादी कृषि कार्य पर निर्भर है। इनमें से १० प्रतिशत को छोड़कर शेष ६३ प्रतिशत किसान आधुनिक वैज्ञानिक यान्त्रिक साधनों का उपयोग करने में असमर्थ हैं। ये

यांत्रिक साधन न दूध दे सकते हैं, न बैल और न गोबर। मशीनें देहाती जनता की जिन्दगी का भावनात्मक अंग भी नहीं बन सकतीं। 'गरीबी हटाओ, नारों ने अगर कुछ किया तो यही कि हमारी आँखों में अँगुली डालकर हमें यह बता दिया कि हमारे देश के अपने ही भाई-बहिन लगभग ५० प्रतिशत की सीमा तक गरीबी की रेखा के नीचे जीवित रहने को मजबूर हैं। विकास और प्रगति के समस्त आयोजनों पर यह बड़ी कटु टिप्पणी है कि देश ने औद्योगिक प्रगति के राजमार्ग पर जिस तेजी से दौड़ लगाई उसने विषमता की खाइयों को और गहरा कर दिया। अब भी हमारे योजना निर्माता गरीब देहाती किसानों के बजाय नवधनाढ्य किसानों की दृष्टि से ही योजनायें बनाते हैं और देहाती किसान उनकी आँखों से ओझल हो जाता है।

अगर किसानों की हालत सुधारनी है तो हमें पश्चिम की नकल छोड़ कर भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को पुनर्जीवित करना होगा। उस ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का यदि कोई केन्द्र-बिन्दु है, तो वह गाय और बैल है। गाय के साथ जो पूजा की बुद्धि जुड़ी हुई है, उसको माता या उसके शरीर में समस्त देवताओं का निवास मानने की भावना है, उसका धार्मिक और सांस्कृतिक आधार चाहे कितना ही पुष्टि क्यों न हो, पर यहाँ हम उसकी चर्चा नहीं करना चाहते। केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कहना चाहते हैं कि गोधन हमारा राष्ट्रीय धन है और जब तक हम उसकी उपेक्षा करते रहेंगे तब तक राष्ट्र की दरिद्रता कभी दूर नहीं हो सकती। गो-हत्या के विरोध में केन्द्रीय सरकार द्वारा कानून बनाये जाने की माँग को जो लोग धार्मिक रूढ़वाद का नाम देते हैं, क्या उनको यह बताना जरूरी है कि अब प्रगतिशील विचारक ही शराब-विरोधी, सिगरेट-विरोधी और प्रदूषण-विरोधी आन्दोलन चला रहे हैं, क्योंकि स्वस्थ मानव जाति के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं विश्व स्वास्थ्य संगठन की ओर से स्तन पान के

पक्ष में प्रचार किया जा रहा है और डिब्बाबन्द कृत्रिम शिशु आहारों के विरुद्ध तीव्र अभियान चलाया जा रहा है ,

इसके अलावा देश में जो भयंकर ऊर्जा संकट पैदा हो गया है, उसके निराकरण का उपाय भी गोधन की वृद्धि ही है। विश्व में नैप्था के जितने भूमिगत भण्डार हैं, वे अधिक दिनों तक चलने वाले नहीं। नैप्था की कमी से हमें चार करोड़ टन कच्चा तेल प्रतिवर्ष मिलना बन्द हो जायेगा। अरबों रुपए की मशीनें भी बेकार हो जायेंगी। डीजल पेट्रोल के बिना ट्रैक्टर चलने बन्द हो जायेंगे। बसों और ट्रकों के बन्द होने से माल ढुलाई ठप्प हो जायेगी। डामर के अभाव में सड़कें खराब हो जायेंगी। और अन्त में, ऊर्जा के अभाव में देश को महान् संकट का सामना करना पड़ेगा।

गाय के शरीर का कोई भी अंश ऐसा नहीं जो उसके जीवित रहते या उसकी मृत्यु के बाद भी मनुष्य जाति के हित में प्रयुक्त न होता हो। जैसे गोवंश बेकार नहीं, वैसे ही गोमूत्र और गोबर भी बेकार नहीं। एक क्विटल गोबर और गोमूत्र से ५० क्विटल खाद तैयार हो सकती है। इसके अलावा बहुत कम मूल्य में घरेलू उपयोग के लिए गैस और ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। गोबर से कितनी ऊर्जा मिल सकती है उसका हिसाब लगाने पर पता लगा कि १९ करोड़ पीपे कच्चे तेल के बराबर ऊर्जा केवल गोबर से ही प्राप्त की जा सकती है। भारत को प्रति-वर्ष ५ अरब रुपया केवल कच्चे तेल पर ही खर्च करना पड़ता है। रासायनिक खाद से भूमि की उर्वरा शक्ति पर बुरा असर पड़ता है, सो अलग। इस प्रकार देश की नैया को इस मृत्यु-वैतरणी से पार करने के लिए एकमात्र गोवंश की रक्षा ही उसका साधन है।

एक गाय अपने बीस वर्ष के जीवनकाल में एक लाख पचपन हजार पौण्ड दूध, सोलह बैल, ५०० टन गोबर और २०० टन मूत्र देती है। एक गाय अपने पूरे जीवन काल में छयावन हजार व्यक्तियों का पेट भरती है। उससे उत्पन्न बैल तीन हजार क्विन्टल अनाज पैदा करते हैं

जिससे एक बार में २१ हजार मनुष्यों का पेट भरता है। उन बैलों से ४०० एकड़ भूमि उर्वरा होती है। गाय से बैल और बछड़े और उनसे पुनः गाय एवं बैल उत्पन्न होते हैं। दूध, घी एवं प्राकृतिक खाद का यह स्रोत निरन्तर जारी रहता है। इसके साथ ही गाय के साथ भावनात्मक सम्बन्ध बना रहने से जीवन में अपराध-वृत्ति में कमी आती है।

अब खेती के लिए किसानों को बैल मिलना तो दूभर हो ही गया। उल्टे मुनाफाखोर व्यापारी, सरकारी वित्त विभाग द्वारा विदेशी मुद्रा प्राप्त कराने के लिए गोमांस के निर्यात में एक दूसरे से होड़ करने लगे हैं। प्रतिवर्ष गोमांस के निर्यात की मात्रा निरन्तर बढ़ती चली जाती है और पिछले बीस सालों में ही यह दो हजार टन से बढ़ते-बढ़ते एक लाख टन तक पहुँच चुकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि देश को विदेशी मुद्रा की भी आवश्यकता है, परन्तु हमारे राष्ट्र में जिस तरीके से यह सब कुछ हो रहा है, वह सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी को मारने के बराबर है।

पिछले दिनों सरकार ने विभिन्न राज्यों को पत्र लिखकर गोहत्या के विरोध में कानून बनाने का उनको परामर्श दिया है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार यह दायित्व राज्यों का ही है। परन्तु हम समझते हैं कि संविधान ने जो अधिकार केन्द्र को दे रखे हैं उनके अनुसार केन्द्र को ही गोहत्या के निषेध के लिए कानून बनाना चाहिए और सब राज्यों को उस पर अमल करना चाहिए। राज्यों को नीति निर्देशक सिद्धान्त एक तरह से नैतिक आश्वासन ही तो हैं। कुछ राज्यों के कानूनों में कुछ वैधानिक त्रुटियाँ रह गई हैं—जिनके कारण मुनाफाखोर व्यापारी किसी न किसी बहाने गोवंश का विनाश करते हैं। उस सबको रोकना और कानूनी अड़चनों को दूर करना भी केन्द्र का ही काम है। राज्यों के ऊपर छोड़ कर केन्द्र अपनी जिम्मेवारी से नहीं बच सकता।

इसलिए यदि किसानों की समस्या सुलझानी है, बैल की सुविधा प्रदान करनी है, सस्ती खाद देनी है, ईंधन बचाने का गैस संयंत्र लगाने की सुविधा देनी है और पर्यावरण को दूषित होने से बचाना है तो इन सबका एकमात्र इलाज यही है कि गोवध बन्दी के लिए केन्द्रीय कानून बने और गोवंश की रक्षा के लिए सब तरह का प्रयत्न किया जाय। गोधन ही हमारा असली राष्ट्र धन है। [सितम्बर १६, १९८४ ई०]

करनाल चलो, मगर क्यों ?

करनाल में हरियाणा, पंजाब तथा उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों के समस्त आर्य समाजियों के सम्मिलित प्रयत्न से महर्षि दयानन्द बलिदान शताब्दी के रूप में महान आयोजन हो रहा है। विजय दशमी का दिन प्राचीन काल में अपने राज्य विस्तार के लिए और अविजित प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के लिए राजाओं के सैनिक अभियान के श्रीगणेश का सूचक होता था। अब स्वतंत्र भारत में प्राचीन काल के राजाओं की तरह सैनिक अभियान की तो आवश्यकता नहीं रही, पर दूसरे रूप में विजय अभियान की आवश्यकता अवश्य है। दशहरे से ठीक अगले दिन ५ अक्टूबर से शुरू होकर ७ अक्टूबर तक चलने वाला यह महान सम्मेलन समस्त आर्यों की शक्ति का ऐसा सशक्त प्रदर्शन होना चाहिए कि विघटनकारी और राष्ट्र-विरोधी शक्तियाँ यह समझ जायें कि अब हमारे मनसूबे पूरे नहीं होंगे।

करनाल ही क्यों ? हमारी दृष्टि में इसका समाधान यह है कि—महाभारत काल से लेकर मुगल काल तक सदा कुरुक्षेत्र, पानीपत, तरावंड़ी और करनाल की भूमि भारतीय इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा करती रही है। खैबर के दर्रे से जो विदेशी आक्रमणकारी आते थे, उनको सबसे जबर्दस्त प्रतिरोध का सामना इसी ४०-५० मील की पट्टी पर करना पड़ता था और यहाँ के रणक्षेत्र में जिसने विजय प्राप्त कर ली, उसको फिर सारे भारत में कहीं उतने जबर्दस्त प्रतिरोध का सामना किये जाने की संभावना नहीं रहती थी और तब भारत भर में उस विदेशी शक्ति का साम्राज्य फैलते देर नहीं लगती थी।

पंजाब सदा से भारत की खड्गधारिणी भुजा रहा है। परन्तु पाकिस्तान बनने के पश्चात् देश को सबसे बड़े जिस दुर्भाग्य का सामना

करना पड़ा वह यही था कि भारत के उत्तरी सीमान्त की यह खड्ग-धारिणी भुजा कट गई। सन् १९४७ के पश्चात् इसीलिए भारत को दो-दो बार पाकिस्तान से जूझना पड़ा। भारत की जो उत्तरी सीमा पहले कभी पेशावर तक जाती थी, वह अब खिसकते-खिसकते अटारी तक आ गई। फिर भी भारत ने हौसला नहीं खोया और बचे-खुचे पंजाब को ही दुबारा खड्गधारी भुजा के रूप में सन्नद्ध किया।

इसमें सन्देह नहीं कि अवशिष्ट पंजाब को पुनः खड्गधारी भुजा बनाने में बहादुर सिखों का कम योग नहीं था। आखिर पाकिस्तान बनने पर हिन्दुओं के साथ-साथ उनका भी खून समान रूप से बहा था और वैसे भी आपसी खून के रिश्तों ने उस गठजोड़ को निरन्तर पक्का ही किया था। परन्तु गत दो वर्षों से इसी पंजाब में कुछ ऐसी हवा बही कि अंग्रेजों द्वारा अपने शासन के समय बोया गया विष-बीज अंकुरित हो गया और धीरे-धीरे वह राष्ट्र का खण्डन करने के लिए हिंसा के मार्ग पर चल पड़ा। भिंडरावाले उसी हवा की पैदावार थे। अब बेशक भिंडरावाले और शाह बेग सिंह तथा अमरीक सिंह नहीं रहे परन्तु उनके द्वारा फैलाई गई विषैली हवा अभी तक समाप्त नहीं हुई। अभी पिछले दिनों छीना के पास जिस तरह बस का अपहरण करके उसमें से आठ हिन्दुओं को बेरहमी से मारा गया है वह इस बात की निशानी है कि जो लोग यह समझते हैं कि सैनिक कार्यवाही के पश्चात् पंजाब में आतंकवाद समाप्त हो गया है, वे भ्रम में हैं।

कभी श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था कि पहले आतंकवादी स्वर्ण-मन्दिर के अन्दर थे और सेना उसके बाहर थी, परन्तु सैनिक कार्यवाही के पश्चात् सेना स्वर्ण मन्दिर के अन्दर और आतंकवादी स्वर्ण-मंदिर के बाहर हो गये। अब धीरे-धीरे ये प्रमाण सामने आते जा रहे हैं कि सेना द्वारा कार्यवाही प्रारम्भ होते ही करीब आधे आतंकवादी स्वर्ण मन्दिर से भागकर देश के अन्य स्थानों पर भूमिगत हो गये। इसीलिए सैनिक कार्यवाही के पश्चात् दो-दो बार विमान अपहरण और

दो-दो बार नहरों को काटने की वारदातें हो गईं, और सरकार कुछ नहीं कर सकी। इन आतंकवादियों को शह देने में और उनको हथियार सप्लाई करने में पाकिस्तान का कितना हिस्सा है, यह कहना कठिन है, परन्तु शरारत बदस्तूर जारी है।

हमारे कहने का भाव यह है कि पहले पूरा पंजाब हमारी खड्ग-धारी भुजा था, पर देश-विभाजन के पश्चात् वह भुजा टूट गई तो पूर्वी पंजाब को हमने संवारकर खड्गधारी भुजा बनाया। परन्तु इस खालिस्तानी आन्दोलन ने इस पूर्वी पंजाब की खड्गधारी भुजा को भी पंगु कर दिया। अब किसी भावी संकट के समय हमें इच्छोगिल नहर या खेमकरण के बजाय हरियाणा को अपनी प्रतिरक्षा पंक्ति बनाना पड़ेगा। इस नाते से सारे देश की आशाओं का केन्द्र भविष्य में हरियाणा ही बनेगा, ऐसा हमें लगता है। हरियाणा पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है और अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को उसे पूरी तरह से निभाना है। अभी तक उग्रवादी मानसिक विकृतियों का सही प्रतिकार हरियाणा की भूमि से ही होता रहा है, और भविष्य में भी होगा, यह हमें विश्वास है। इस दृष्टि से सोचें तो हरियाणा राष्ट्र के विजय-अभियान के लिए सफर मैना का काम करेगा।

यों भी आर्य समाज का जितना प्रचार हरियाणा में है, देश के किसी और राज्य में नहीं। पाकिस्तान बन जाने के पश्चात् पूर्वी पंजाब में आर्य समाज की वह शक्ति नहीं रही, जो कभी संयुक्तत पंजाब में होती थी। पंजाबी सूबा बनने के बाद उस शक्ति में निरन्तर कमी आती गई। पंजाब के आर्यसमाजियों के सिर पर हमेशा आतंकवादियों की तलवार लटकती रही है। उनका जान-माल भी सुरक्षित नहीं रहा और सब प्रसिद्ध आर्य नेताओं को "हिट लिस्ट" में शामिल करके उनको मारने की धमकियाँ दी जाती रहीं। पंजाब में न आतंकवाद समाप्त हुआ, न वे धमकियाँ समाप्त हुईं। अब भी समस्त हिन्दू समाज इस

आशंका से ग्रस्त है कि सेना के हट जाने पर हमारी सुरक्षा का क्या होगा।

प्रसन्नता की बात यह है कि हरियाणा अलग राज्य बन जाने के पश्चात् जहाँ इस राज्य ने अन्य सब दृष्टियों से प्रगति की, वहाँ आर्य समाज के कार्य की दृष्टि से भी इसने सफलता के नये आयाम चूमे। हरियाणा के आर्य समाजों की शक्ति ने जैसे पूर्वी पंजाब की अशक्ति की कमी पूरी कर दी। इसलिए अनेक आर्य नेता यह स्वप्न देखते हैं कि यदि सारे भारत में सबसे पहले कोई राज्य आर्य राज्य बन सकता है तो वह हरियाणा ही है। हरियाणा में वह जनशक्ति भी है, धनशक्ति भी है और साहस की भी वहाँ कमी नहीं है। इसलिए हमारा निवेदन है कि बलिदान शताब्दी के समारोह के रूप में यह दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है। पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के समस्त आर्य नेता इस उत्सव में सम्मिलित होकर इस अवसर पर एक मंच पर उपस्थित हों, और भविष्य के लिए हरियाणा की सुदृढ़ प्रतिरक्षा पंक्ति तैयार करने के लिए जनता का आह्वान करें।

केवल आर्य समाज ही क्यों? हम तो यहाँ तक कहेंगे कि जितनी हिन्दुत्ववादी और राष्ट्रवादी संस्थाएँ हैं—इनमें हम गैर अकाली सिखों को भी शामिल करते हैं—वे सब एकत्रित हों और भविष्य के लिए हरियाणा को एक आदर्श आर्य राज्य बनाने की भूमिका तैयार करें। हमें शंका का कोई कारण नजर नहीं आता कि हरियाणा की सरकार इसमें भी पूरी तत्परता के साथ सहयोग न दे। यह राष्ट्रीय कर्तव्य है और इस राष्ट्रीय कर्तव्य को निभाने के लिए यह स्वर्ण अवसर हमको उपलब्ध हुआ है। इसलिए पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के समस्त आर्य जनों से हमारा निवेदन है कि वे इस महा सम्मेलन की सफलता के लिए अभी से कमर कस कर तैयार हो जायें।

देश का भविष्य आर्य समाज के साथ जुड़ा है और आर्य समाज का भविष्य राष्ट्र की सुरक्षा के साथ जुड़ा है। राष्ट्र को सही मार्ग-

दर्शन केवल आर्य समाज ही दे सकता है अन्य पार्टियाँ नहीं, चाहे वे धार्मिक पार्टियाँ हों, चाहे वे राजनैतिक पार्टियाँ हों, क्योंकि आर्य समाज ने हमेशा संकुचित सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर वेद और राष्ट्र को समान महत्व दिया है। वेद ने ही आदेश दिया है—"वयं राष्ट्रे जागृयाम"—राष्ट्र के प्रति हम सदा सजग रहें।

दयानन्द के सैनिको !

"उत्तिष्ठत संनह्यध्वम् उदारा : केतुभिः सह"

—उठो, खड़े हो, तयार हो जाओ और झण्डे अपने हाथों में लेकर विजय-अभियान के लिए निकल पड़ो।

[२३ सितम्बर; १९८४ ई०]

ये कौन से जीवनमूल्य हैं ?

पिछले दिनों दूरदर्शन की रजत जयन्ती बड़ी धूम-धाम से मनाई गई और उस अवसर पर सारे देश में दूरदर्शन का जाल बिछाने की एक व्यापक योजना भी तैयार की गई। इस योजना के अन्तर्गत इस वर्ष के अन्दर-अन्दर १८० नये दूरदर्शन ट्रांसमीटर लगाने का निश्चय भी किया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक दूसरे दिन देश में एक नया दूरदर्शन केन्द्र खुल जायेगा। बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अलावा यह नया २१वाँ सूत्र है जिस पर सबसे अधिक ध्यान दिया जा रहा है। प्रधान मंत्री ने भी यह कह दिया है कि अब दूरदर्शन कोई विलासिता की वस्तु नहीं है। जिस प्रकार शहरों के लोगों को दूरदर्शन के द्वारा मनोरंजन का अधिकार है उसी प्रकार देहात की जनता को भी है। इसलिए भारत सरकार कम से कम इस दृष्टि से देहाती जनता को शहरी जनता से पीछे नहीं रहने देना चाहती। ऐसा लगता है कि देश की गरीबी हटाने का सारा कार्यक्रम नये दूरदर्शन केन्द्र खोलने के कार्यक्रम में समाहित हो गया है। स्पष्ट है कि दूरदर्शन की सुविधा का उपयोग करने वालों को गरीब कहना किसी को भी शोभा नहीं देगा।

दूरदर्शन के इस विस्तार के समर्थन में यह तर्क भी दिया गया कि दृश्य और श्रव्य अर्थात् आँख से देखने योग्य और कान से सुनने योग्य माध्यम से जितनी आसानी से मनुष्य को शिक्षित किया जा सकता है उतनी आसानी से किसी और माध्यम से नहीं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। पर दूरदर्शन के रूप में इस माध्यम का जनता को शिक्षित करने में किस प्रकार का योग होगा, यह उस नई पीढ़ी से पता लग सकता है जो आजकल के दूरदर्शन युग में जन्मी, पली-पुसी और बढ़ी है।

पहले यही मनोवैज्ञानिक तर्क सिनेमा के सम्बन्ध में दिया जाता था। पर धीरे-धीरे सिनेमा जनता को शिक्षित करने के बजाय और सात्विक भावोद्रेक जगाने के बजाय जिस प्रकार फूहड़ अश्लीलता और हिंसा बढ़ाने लगा और जनता में असामाजिक तत्वों के प्रति सहज रुचि जगाने लगा, उसके कारण भले और समझदार लोग सिनेमा मात्र को ही बुरा कहने लगे। "बम्बइया फिल्म" शब्द तो जैसे उच्च शिक्षित वर्ग में एक तिरस्कार और विद्रूपता की निशानी ही बन गया। पर जब दूरदर्शन के माध्यम से "बम्बइया" फिल्मों वाला जहर घर बैठे आप तक पहुँचने लगे तो आप उससे कहाँ तक बच पायेंगे ? आप अपनी बात छोड़िये; आपके बाद आने वाली जो नई पीढ़ी है अर्थात् आपके बच्चे, वे तो इस जहर को बचपन से ही पीने के अभ्यस्त हो जायेंगे।

दूसरा तर्क यह दिया कि दूरदर्शन के माध्यम से ग्रामीण जनता में सामुदायिक भावना का विकास होगा। पहले कभी भारत के देहातों में पंचों और पंचायत को महत्व प्राप्त था। आधुनिक राजनीति ने उस पंचायत प्रणाली में भी वैमनस्य-प्रधान दलीय और व्यक्तिगत राजनीति का समावेश कर दिया और वहाँ भी केवल सत्तारूढ़ दल के जी-हजूरियों का ही बोल-बाला हो गया, तो जैसे देहात से न्याय भी उठ गया। जैसे पहले पंचों के न्याय पर जनता की श्रद्धा होती थी, अब वैसी श्रद्धा नहीं रही। क्योंकि अब स्वयं पंच ही न्यायकर्ता नहीं रहे, बल्कि किसी इस या उस महत्वपूर्ण व्यक्ति के स्वार्थसाधक प्रवक्ता मात्र बनकर रह गये। एक तरफ हमारी राजनीति ग्रामीण जनता की सामूहिक भावना को तोड़ती जा रही है, दूसरी ओर उसका विकास करना चाहती है। ये दोनों विरोधी बातें एक ही साथ कैसे पूरी होंगी ? सामुदायिक सहयोग का वास्तविक तरीका तो ग्रामीण उद्योगों को पनपाने में और विकास कार्यक्रमों में सामूहिक श्रम का योगदान जुटाने में होता। पर हमारे सब विकास कार्यक्रम ऊपर से अफसरों द्वारा थोपे गये और ग्रामीण जनता की भागीदारी से प्रायः शून्य होते हैं।

सबसे बड़ा खतरा यही है कि जिनको आप आधुनिक जीवन-मूल्य कहते हैं वे उद्योग-प्रधान उपभोक्ता संस्कृति की देन हैं और उनमें पाश्चात्य जीवन की नकल ही प्रधान है। जो अन्तर सभ्यता और संस्कृति में है वही अन्तर प्राचीन और आधुनिक जीवन-मूल्यों में है। आधुनिक जीवन-मूल्य सभ्यता-प्रधान हैं, और प्राचीन जीवन-मूल्य संस्कृति-प्रधान हैं। सभ्यता का सम्बन्ध बाह्य परिवेश से है और संस्कृति का सम्बन्ध आंतरिक परिवेश से। यहीं से मूल्यों में अन्तर प्रारम्भ हो जाता है। आधुनिक फैशन की दुनिया में जिसको आप पूर्ण सभ्य मनुष्य या 'परफेक्ट जन्टिलमैन' कहते हैं, सम्भव है वह सांस्कृतिक दृष्टि से बिलकुल कोरा हो। और जो सांस्कृतिक दृष्टि से परिपूर्ण हो, वह आपकी आजकल की दुनिया के सभ्य मनुष्य की परिभाषा पर खरा न उतरे। क्योंकि स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार पश्चिमी सभ्यता में मनुष्य को सभ्य बनाने वाले केवल दर्जी द्वारा सिले कपड़े होते हैं जबकि भारतीय सभ्यता के माप-दण्ड के अनुसार अपटुडेट फैशनेवाल कपड़े नहीं, बल्कि सदाचार ही मनुष्य को सभ्य बनाता है।

जिनको आप आधुनिक जीवन-मूल्य कहते हैं वे भारयीय जनता को उसके मूल से उखाड़कर पश्चिम का नकलची बना रहे हैं। आप दूरदर्शन पर "लूसी" और "यस मिनिस्टर" तथा ऐसे ही अन्य अंग्रेजी प्रोग्राम दिखाते हैं, जिनमें विदेशी मनोरंजन, विदेशी रहन-सहन तथा विदेशी जीवन की झलक भले ही हो, परन्तु उनका भारतीय संस्कृति से कहीं दूर का भी वास्ता नहीं होता। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है इन प्रोग्रामों को देखकर, कि यह दूरदर्शन भारत का नहीं, किसी और देश का होगा। जो भारत अपनी सांस्कृतिक विविधता के लिए और लोक कथाओं के भण्डार के लिए विख्यात है, वही भारत के दूर-दर्शन पर सबसे अधिक नदारद है। चाहे चित्रहार हो, चाहे फिल्म हो, चाहे मनोरंजन के अन्य कार्यक्रम हों, परन्तु उन सबमें भारतीय संस्कार-सम्पन्न मानस का और सुरुचि-सम्पन्नता का अभाव होता है।

कभी-कभी कोई अच्छे कार्यक्रम भी आ जाते हैं परन्तु उनकी संख्या विशाल रेगिस्तान में छोटे से नखलिस्तान की तरह है, जबकि होना इससे उल्टा चाहिए।

यह जान कर तो और भी आश्चर्य होता है कि जर्मनी से या पश्चिम के किसी अन्य देश से जो कूड़ा-कचरा फिल्में मुफ्त में प्राप्त होती हैं वे भी बिचौलियों से अच्छे खासे दाम देकर खरीदी जाती हैं। कहा जाता है कि ऐसे सौदों में मेज के नीचे हाथ मिलाकर काफी पैसे का लेन-देन भी होता है। कनाडा और न्यूजीलैण्ड जैसे देश अपने यहाँ खपत के बाद बचे मक्खन का "बटर ऑयल" बनाकर गरीब देशों की सहायता के नाम पर भारत को उपहार के रूप में भेजते हैं, हमारे आका उसी मुफ्त बटर आयल को यहाँ शुद्ध देशी घी के नाम से बेचकर अच्छा पैसा बना लेते हैं। विदेश इसलिए खुश कि उन्होंने गरीब के देश की सहायता कर दी और गरीब देश के अधिकारी इसलिए खुश कि उन्होंने उससे भी कमाई कर ली और आम जनता इसलिए खुश कि जो देशी घी महंगाई की हद छूकर दुर्लभ हो गया, उसे यह विदेश से आया घी कम से कम आधी कीमत पर मिल तो गया। ऐसा पुण्य का कार्य भारत के सिवाय और कहाँ सम्भव है ! पर अब तो वह 'बटर ऑयल' भी आकाश-कुसुम हो गया।

प्रश्न केवल यही है कि जिन जीवन मूल्यों की शिक्षा हम अपनी जनता को देना चाहते हैं, पहले उनके बारे में हम स्वयं स्पष्ट हो लें और उसके बाद जनता में उसका प्रचार करें अन्यथा यह टी० वी० का विस्तार भारत में टी० बी० (तपेदिक) का विस्तार मात्र होकर रह जायेगा।

[३० सितम्बर, १९८४ ई०]

अरदास में हम भी शामिल हैं

स्वर्ण मन्दिर से सेना हट गई, अकाल तख्त नया बन गया, स्वर्ण मन्दिर का नियंत्रण पांचों ग्रन्थियों को सौंप दिया गया, तोपाखाना की चाबियाँ भी उन्हें दे दी गईं, बाबा संता सिंह बिना किसी अवांछनीय घटना के अपने निहंगों के साथ अमृतसर से चले गये और अकाल तख्त के मुख्य ग्रन्थियों ने अपना एक अक्टूबर का मुक्ति मार्च स्थगित करके उसे धन्यवाद दिवस के रूप में मनाने का फैसला कर लिया—ये सब समाचार सारे देश की जनता को राहत पहुँचाने वाले हैं। अब से कुछ दिन पहले तक पंजाब और आन्ध्र में जो घटनाएँ घट गई थीं, उनको लेकर विदेशी पत्रकारों ने और दूरंदेश राजनीतिज्ञों ने यह घोषणा करनी शुरू कर दी थी कि केन्द्रीय सरकार की पकड़ से देश फिसलता जा रहा है और वह धीरे-धीरे विघटन की ओर बढ़ रहा है। परन्तु जिस तरह पंजाब में और आन्ध्र में घटना-चक्र ने नया मोड़ लिया है, उससे प्रभावित होकर अमेरिका की कांग्रेशनल रिसर्च सर्विस ने हाल में ही अपनी रिपोर्ट में यह घोषणा की है कि भारत की राजनीतिक प्रणाली में कुछ विशेषता है कि वह अन्त में खतरनाक स्थितियों पर भी संतोषजनक ढंग से काबू पा लेती है।

जब सन् १९६० में भाषावार राज्यों के निर्माण की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और आन्ध्र और महाराष्ट्र में भयंकर हिंसक आन्दोलन प्रारम्भ हुए थे, तब भी राजनीतिक भविष्यवक्ताओं ने भारत के खण्डित होने की भविष्यवाणी में संकोच नहीं किया था। परन्तु वह भविष्यवाणी सच नहीं हुई। इस बार भी भारत के खण्डित होने की कल्पना करने वाले और अपने-अपने हिसाब से खुशियाँ मनाने वाले विदेशियों को फिर निराशा हुई है। सबसे अधिक निराशा पाकिस्तान को हुई। क्योंकि

खालिस्तान के आन्दोलन को हवा देने के लिए उसने अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जनरल जिया साहब ऊपर से भारत से दोस्ती का राग अलापते रहे और अन्दर से उग्रवादियों को प्रशिक्षण और हथियारों की सप्लाई भी करते रहे। यह देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा कि जितने भी भारतीय विमानों का अपहरण हुआ, वे सब पाकिस्तान ले जाये गये और पाकिस्तान सरकार ने उन अपहरणकर्ताओं को न तो आज तक भारत को सौंपा और न ही उन पर कोई मुकद्दमा चलाया, जबकि पाकिस्तान में विमान-अपहरण की सजा मृत्यु दण्ड से कम नहीं है। पर इसके लिए हम पाकिस्तान को दोष नहीं देते, वह उसकी खसलत है।

अमेरिकन कांग्रेस की रिसर्च सर्विस ने काफी गम्भीरता से अध्ययन करने के पश्चात् तथ्यों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला है उसमें बेशक उसने भारतीय प्रशासन प्रणाली की आन्तरिक क्षमता की प्रशंसा की है, परन्तु शासन प्रणाली के बजाय हम इसे भारत की राष्ट्रीय संस्कृति की महिमा मानते हैं कि समग्र राष्ट्र में कोई ऐसी अन्तर्निहित दिव्य चेतना विद्यमान है जो तरह-तरह के विकराल झंझावतों के बावजूद इस देश को सदियों से एकता के सूत्र में बाँधकर रखती रही है। अगर यह सांस्कृतिक विरासत हमें न मिली होती तो आज जिस रूप में जम्बू द्वीप का यह भारतखण्ड हमें प्राप्त हुआ है वह केवल हमारे संकल्प-पाठ का विषय मात्र बन कर रह जाता। हमारे शास्त्रकारों ने यदि इसे 'तं देव निर्मितं देशम्'' कहा है तो उसका भाव भी यही है। इसमें सन्देह नहीं कि चाहे जब छोटे दिलों और छोटे दिमागों के व्यक्ति भी इस देश में पैदा होते रहे और अपनी ओर से उन्होंने इसकी ईंट से ईंट बजाने में भी कसर नहीं छोड़ी, परन्तु दिव्य शक्ति द्वारा निर्मित इस देश ने हमेशा उन सब क्षुद्रताओं पर और विदेशी आक्रमणों पर विजय प्राप्त करने वाले बड़े दिल और बड़े दिमाग के लोग पैदा करने में भी कसर नहीं छोड़ी। परतंत्रता के युग में भी इसने ऐसे महान्

मनस्वी व्यक्ति पैदा किये जिनकी प्रतिभा का लोहा सारे संसार ने माना।

हम यह भी स्वीकार करते हैं कि पंजाब में जिस तरह से सरकार ने सेना को हटाकर सिखों को एक स्वर्ण अवसर प्रदान किया है उसी तरह पाँचों ग्रन्थियों ने भी इस माहौल को तैयार करने में अच्छी भूमिका निभाई है। हालाँकि अभी तक वे जनता में यही दिखाना चाहते हैं कि हमने सरकार को कोई लिखित आश्वासन नहीं दिया और इस तरह अपनी नाक ऊँची रखकर अपने अनुयाइयों में वे सुर्खरू होना चाहते हैं और यह दिखाना चाहते हैं कि उनकी विजय हुई है। पर अन्दर से वे कितने खोखले हो चुके हैं, यह सारे संसार ने देख लिया है। उनको न केवल सिख जनता में अपनी विश्वसनीयता साबित करनी है, बल्कि भारत के आम नागरिक के मन में भी यह विश्वास पैदा करना है कि अब भविष्य में वे कभी स्वर्ण मन्दिर का राजनैतिक कार्यों के लिए उपयोग नहीं होने देंगे। जिन सात सूत्रों पर वे सहमत हुए हैं उन्हें जान-बूझ कर इसलिए गुप्त रखा जा रहा है कि इन मुख्य ग्रन्थियों को अपनी नाक बचाने में असुविधा न हो। हालांकि २७ सितम्बर को राष्ट्रपति के स्वर्ण मन्दिर में जाने पर ज्ञानी कृपाल सिंह सेना के अत्याचारों की बात बिना कहे नहीं रह पाये, और एक बार राष्ट्रपति से निवेदन किया कि उग्रवादी तबके को शान्त रखने के लिए ही ज्ञानी कृपाल सिंह ने ऐसी बातें कही हैं, अन्यथा वे भी उन सब बातों पर सहमत हैं जिन पर सरकारी अधिकारियों के साथ समझौता हुआ है।

हमें विश्वास है कि भिंडरावाले के समर्थकों की संख्या उतनी नहीं थी जितना उसका शोर था। वैसे भी बहुत थोड़े से असामाजिक तत्व मिल कर सारे समाज को परेशान करने में समर्थ हो सकते हैं। सिखों का बहुमत न उनके साथ था और न ही सब सिख अलगाववादी हैं। जिस सांस्कृतिक विरासत की बात हमने कही है, उसके वारिस सिख भी उतने ही हैं, जितने गैर-सिख। राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व को

समझने वाले सिखों की संख्या कम नहीं है। जब भी कभी देश पर संकट आया है तो वही राष्ट्रीय विरासत मुखर होकर बोली है और सिखों ने अन्य देशवासियों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर उस समय के संकट को दूर करने में पूरा योग दिया है। जो राष्ट्रवादी सिख अब तक आतंक के साये में पल रहे थे और "हिट लिस्ट" में आने के डर से कोई भला आदमी जबान खोलने को तैयार नहीं था, अब उन सबको खुले आम चौराहों पर अपने विचारों को प्रकट करना होगा और भ्रान्त युवकों को प्रेम से समझाना होगा। अगर वे ऐसा रास्ता नहीं अपनाते तो एक दिन फिर कोई नया भिंडरावाला पैदा हो जायेगा। वह राष्ट्र के दुर्भाग्य का दिन होगा।

इस अवसर पर हमें सरकार से भी कुछ निवेदन करना है। सबसे पहली बात तो यह है कि भारत के सम्प्रदाय-निरपेक्ष संविधान का पालन करते हुए किसी भी सम्प्रदाय के ऊपर आधारित पार्टी को उसे राजनीतिक मान्यता नहीं देनी चाहिए जब तक कि उस साम्प्रदायिक पार्टी में अन्य सम्प्रदायों के लोग भी कम से कम आधी संख्या में शामिल न हों। दूसरी बात हम यह कहना चाहते हैं कि अकालियों को न तो सब सिखों का प्रतिनिधि माना जाय, और न ही पूरे पंजाब का प्रतिनिधि माना जाय। भविष्य में अगर अकाली दल से पंजाब के सम्बन्ध में कोई बात होनी है तो वह तब तक न हो जब तक कि उस बातचीत में हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व न हो। आखिर पंजाब केवल अकालियों का नहीं है, उसमें अन्य सिख और हिन्दू भी समान रूप से हकदार हैं। पंजाब के सम्बन्ध में कोई राजनैतिक माँग तब तक न मानी जाय जब तक हिन्दुओं के प्रतिनिधि भी उसका समर्थन न करें। सरकार ने सारे पंजाब का नुमाइन्दा केवल अकालियों को मानकर जो गलती अब तक की है, वह भविष्य में नहीं होनी चाहिए। इन शब्दों के साथ अकाल तख्त में होने वाली अरदास में हम भी शामिल हैं और अकाल पुरुष से यह प्रार्थना करते हैं कि वह इस देश के निवासियों को ऐसी सद्बुद्धि दे कि पंजाब पुनः अपने गौरव के अनुरूप हिन्दू-सिख एकता की मिसाल कायम करके राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का सही ढंग से निर्वाह कर सके।

[अक्तूबर ७, १९८४ ई०]

दास्तान सुनकर किसी भी सहृदय व्यक्ति का हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। थोड़ा सा राशन, थोड़े से कपड़े, दिन-रात जी-तोड़ मेहनत और उस पर भी गोरों के कोड़ों की मार सम्राज्यवादियों की हृदयहीनता की परिचायक है। अपनी मातृभूमि से हजारों मील दूर इन प्रवासी भारतीयों का शरीर बेशक विदेश में था परन्तु उनका मन हमेशा भारत-माता की गोद में वापिस आने के लिए तरसता रहता था।

इन उपनिवेशों में गये प्रवासी भारतीयों की एक विशेषता का उल्लेख करना आवश्यक है। इनसे पहले जिन अफ्रीकियों को अंग्रेज लोग पकड़ कर लाते थे, उनकी कोई ऐसी सभ्यता और संस्कृति नहीं थी जिस पर वे गर्व कर सकें। इसीलिए उनको ईसाइयत का बाना पहनते देर नहीं लगती थी। परन्तु भारतवासियों को एक महान संस्कृति विरासत में मिली थी, इसलिए वे अपने धर्म को सहज ही छोड़ने को तैयार नहीं थे। अपने पूर्वजों के धर्म और प्राचीन भारतीय संस्कृति की महिमा को वे कैसे भुला सकते थे? परन्तु नये युग की और नई परिस्थितियों की जो चुनौतियाँ थीं। उनका सामना करने में पाखंड, अन्धविश्वास और कतिपय रूढ़ियों से बंधा पौराणिक धर्म कारगर नहीं हो सकता था। ऐसे समय एकमात्र आर्य समाज ही ऐसी संस्था थी जो उन प्रवासी भारतीयों के लिए सबसे बड़ी शरण और चेतना का आधार बनी। जिन धर्मध्वजियों ने समुद्र यात्रा को पाप बताया और जन्म के आधार पर छुआ-छूत का निर्धारण किया उनके उपदेश उस युग की उस प्रवासी भारतीय पीढ़ी को प्रेरणा नहीं दे सकते थे। तब इन प्रवासी जनों में आत्मगौरव की भावना भरने वाला अपनी संस्कृति और अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्था का विस्तार करने वाला केवलमात्र आर्यसमाज ही था। दीनबन्धु श्री सी० एफ० एण्ड्रूज़ ने महात्मा गाँधी को एक पत्र में लिखा था—

"आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है, जो प्रवासी भारतीयों की

उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा

अब से ठीक डेढ़ सौ वर्ष पहले भारतवर्ष से कुछ मजदूर मौरिशस की भूमि पर ले जाये गये थे। उस समय भारत में और मौरिशस में अंग्रेजों का राज्य था। ब्रिटिश पार्लियामेंट गुलामी की प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर चुकी थी, इसलिए अफ्रीका के जिन हब्शियों को वे गुलाम बनाकर लाया करते थे, उनसे काम करवाना सम्भव नहीं था। तब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की नजर भारत के उन गरीब इलाकों पर पड़ी जहाँ के लोग अकाल के कारण प्राय: भुखमरी का शिकार होते रहते थे। सन् १८५७ की राज्यक्रन्ति में पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार के जिन लोगों ने राजा कुंवर सिंह का साथ दिया था, उनसे बदला लेने के लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पूरी तरह सर्वहारा बना कर छोड़ा। जब मौरिशस में उनको मजदूरों की आवश्यकता हुई तो इन्हीं लोगों को तरह-तरह के प्रलोभन देकर पाँच साल के ऐग्रीमेंट पर मौरिशस ले जाया गया। इस ऐग्रीमेंट के कारण ही ये लोग 'गिर-मिटिए' कहलाए। परन्तु ब्रिटिश आकाओं ने उस पाँच साल वाली शर्त का कभी पालन नहीं किया और उनको वापिस भारत आने की सुविधा नहीं दी।

केवल मौरिशस में ही नहीं, बल्कि जहाँ-जहाँ अंग्रेजों ने अपने उप-निवेश बसाये थे, उन सब स्थानों पर इसी प्रकार भारत से मजदूरों को भर-भर के ले जाया गया। इनमें पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीका, फिजी द्वीप समूह, गियाना, ट्रिनीडाड, सूरीनाम और वेस्टइण्डीज आदि शामिल हैं। जिन भारतीयों को वहाँ ले जाया गया, उनकी कथा बड़ी करुण है। समुद्री यात्रा के दौरान और इन उपनिवेशों में पहुँचने के पश्चात् बन्धुआ मजदूरों के समान उन पर जो अत्याचार किये गये, उसकी

धार्मिक आकांक्षाओं की तृप्ति, सामाजिक त्रुटियों का निवारण और राष्ट्रीय भावनाओं का उद्दीपन कर सकती है। उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों के लिए आर्यसमाज जो कुछ कर रहा है, उसका मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है जो पुण्य-भूमि भारत के प्रति प्रवासियों के हृदय में अनुराग पैदा करती है और पुरातन आर्य संस्कृति के (जिस पर प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है) हित की रक्षा पर विशेष ध्यान देती है। आर्यसमाज के द्वारा उपनिवेशों में वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रचार तथा रक्षण हुआ है। आर्यसमाज में जीवन, शक्ति और उत्साह है। भारत की जो संस्थाएँ प्रवासी भारतीयों की सेवा कर सकती हैं, उनमें आर्यसमाज से बड़कर क्रियाशील और शक्तिशाली अन्य कोई संस्था नहीं है।''

जिन ब्रिटिश उपनिवेशों में ये प्रवासी भारतवासी गये उनमें से अधिकांश में वे बहुसंख्यक हैं। किन्तु जिस प्रकार की संगठन शक्ति का और राजनीतिक चेतना का परिचय मौरिशस के प्रवासियों ने दिया, वैसा किसी और प्रदेश के भारतीय प्रवासी नहीं कर सके। फिजी और गियाना में भी भारतीय मूल के लोगों की संख्या अन्य सब लोगों से अधिक है किन्तु वहाँ आपस में असंगठित होने के कारण वे सरकार नहीं बना सके। यह सौभाग्य केवल मौरिशस को ही प्राप्त हुआ है। सन् १९६७ में आजाद होने के पश्चात् वहाँ की सरकार का नियंत्रण उन प्रवासी भारतीयों के ही हाथ में है जिनके पूर्वज कभी बन्धुआ मजदूर बनकर इन प्रदेशों में गये थे। मौरिशस के इन लोगों की कहानी श्रम, अश्रु, स्वेद और रक्त से सिंचित है। किन्तु उनका पुरुषार्थ अन्ततः फलीभूत हुआ और नक्शे में बिन्दुमात्र सा दिखने वाला, २८ मील चौड़ा और लगभग ४० मील लम्बा यह छोटा सा टापू ''हिन्द'' महासागर का मोती'' कहलाया। हिन्द महासागर के साथ जुड़े ''हिन्द शब्द को जिस कुशलता से इस छोटे से टापू ने सार्थक किया है, इसके कारण इसे सही अर्थों में ''लघु भारत'' कहा जा सकता है।

इसी सप्ताह मौरिशस में भारतीयों के आगमन की डेढ़ सदी पूरी हो जाने पर सारे टापू में विशेष समारोह मनाया जा रहा है जिसमें भारत के राष्ट्रपति तथा अन्य अनेक भारतीय मनीषी भी शामिल हो रहे हैं। आर्य प्रादेशिक सभा के प्रधान श्री प्रो० वेदव्यास जी और आर्यसमाज के मूर्धन्य सन्यासी श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती भी वहाँ जा रहे हैं। हमें मौरिशस में सन् १९७३ में हुए सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन की वह झांकी नहीं भूलती जब भारत के लगभग एक हजार यात्री पहली बार सामूहिक रूप से आर्यसमाज के नाम पर विदेश-यात्रा पर निकले थे। उस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के पश्चात् तो नैरोबी और लन्दन में भी अन्तर्राष्ट्रीय महासम्मेलन हो चुके हैं। परन्तु भारत की सीमा के बाहर ऐसे विशाल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सम्मेलनों के आयोजन का श्रीगणेश तो मौरिशस से ही हुआ था।

मौरिशस की युवा पीढ़ी और बुजुर्ग पीढ़ी इन दोनों में जैसी सामाजिक और राजनीतिक चेतना आर्यसमाज ने पैदा की है, वह अद्भुत है। इस छोटे से टापू में लगभग २०० आर्यसमाजें हैं, जबकि भारत की राजधानी दिल्ली जैसे महानगर में भी समाजों की उतनी संख्या मुश्किल से ही होगी। आर्यसमाज, भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रति जैसा अनुराग मौरिशस के इन प्रवासियों में है, उससे हम भारत-वासी भी किसी हद तक ईर्ष्या कर सकते हैं। परन्तु वहाँ की नई पीढ़ी को जिस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति का झंझावात झकझोर रहा है, हालांकि वैसी ही समस्या हमारे यहाँ भारत में भी है, उसके निवारण के लिए हम सब भारतीयों को और खासतौर से भारत की सरकार को, काफी सक्रियता दिखानी पड़ेगी। सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक, साहित्यिक और आर्थिक क्षेत्र में भारत के साथ मौरिशस की निकटता बनाये रखने के लिए हमें आपसी सम्बन्धों की इस डोर को लगातार मजबूत बनाना होगा। सरकार के अलावा गैरसरकारी संस्थाओं को भी इसमें पूरा सहयोग देना होगा।

दोनों देशों को मिलाने वाले हिन्द महासागर की उत्ताल तरंगों पर एक नया सहयोग का ऐसा सेतु बनाना होगा जो विश्व के लिए उदाहरण बन सके।

दीपावली के अवसर पर एक दीपक इन प्रवासी भारतीयों की स्मृति की देहरी पर भी!

[अक्टूबर २१, १९८४ ई०]

चुनावों की सरगमी शुरू

सन् १९८५ के जनवरी मास में चुनाव होने की घोषणा की बड़ी तीव्रता से प्रतीक्षा की जा रही है। अब से कुछ समय पहले तक चुनाव होने या न होने के सम्बन्ध में जो शंका का वातावरण दिखाई दे रहा था, अब उसकी चर्चा सुनाई नहीं देती। सब राजनैतिक दल यही मान कर चल रहे हैं कि चुनाव यथासमय होंगे और उसी दृष्टि से विभिन्न दलों ने चुनावी गठजोड़ और तालमेल प्रारम्भ कर दिये हैं। लोकदल और जनता पार्टी ने मिलकर दलित किसान मजदूर पार्टी का निर्माण किया है। जो विरोधी दल इस पार्टी में शामिल कहीं हैं—जैसे भारतीय जनता पार्टी—वे भी अपने उम्मीदवारों के सम्बन्ध में विभिन्न दलों के सहयोग से सम्मिलित प्रत्याशी खड़े करने की तैयारी कर रहे हैं। समस्त विरोधी दलों ने यह अनुभव कर लिया है कि अलग-अलग रहकर वे शासक दल का मुकाबला नहीं कर सकते इसलिए वे इंका को हराने के उद्देश्य से एक बदहवासी से भरी भाग दौड़ में लगे हैं।

उधर इंका वाले भी चुप नहीं बैठे हैं। विभिन्न राज्यों में वे भी अपनी गोटियाँ फिट करने में जुट गये हैं। कुल मिलाकर इस समय विभिन्न दलों द्वारा आपस की आलोचना-प्रत्यालोचना से तबेले में लतियाव का सा आभास होता है। सबके सामने कुर्सी को हस्तगत करने की समस्या ही सबसे प्रमुख है। आश्चर्य की बात यह है कि विरोधी दल भी प्राय: नारा उन्हीं सिद्धान्तों का लगाते हैं, जिनका प्रचार चिरकाल से कांग्रेस करती आई है। धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, प्रजातंत्र—ये हमारे संविधान के मूलभूत आधार हैं। सब राजनैतिक दल अपने से भिन्न दलों के बारे में यही अरोप लगाते हैं कि भारतीय संविधान के

इन मूल आधारों के पोषक केवल हम हैं, और अमुक तो केवल जबानी जमाखर्च करता है। सब अपने को दूध का धोया और दूसरे को पाप-पंक में लिप्त बताते हैं। विपक्षी दलों का गठबन्धन भी किसी सिद्धान्त की खातिर न होकर केवल सत्ता प्राप्त करने की लालसा से प्रेरित है। एक बार देश ने बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाकर ५ दलों के गठबन्धन से बनी जनता पार्टी को शासन सौंपा था। पर जिस तरह उसने आपसी महत्वाकांक्षा की होड़ में जनता की आशाओं पर पानी फेर दिया, वह भारतीय राजनीति का अत्यन्त दुःखद अध्याय है।

हालाँकि प्रजातंत्र के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि शासक दल का कोई विकल्प हमेशा तैयार रहे, अन्यथा शासक दल के अन्दर ही तानाशाही की प्रवृत्ति पैदा होने लगती है। जब से देश आजाद हुआ है तब से, पिछले सैंतीस सालों में, केवल तीन वर्षों को छोड़कर सदा कांग्रेस ही सत्ता के सूत्र सम्भालती रही। जब एक बार देश ने उस कांग्रेस के विकल्प का परीक्षण प्रस्तुत किया तब वह परीक्षण विफल होकर रह गया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि कांग्रेस का कोई विकल्प है ही नहीं। अगर विकल्प की सम्भावना नहीं रहेगी तो न तो कभी शासक दल पर अंकुश रहेगा और न ही कभी प्रजातंत्र सुरक्षित रह सकेगा। इसलिए विकल्प का होना तो अत्यन्त आवश्यक है। पर वह विकल्प क्या हो, यही सबसे बड़ी समस्या है।

जहाँ विपक्षी दल अपने आपको सशक्त विकल्प के रूप में प्रस्तुत करने की बात करते हैं, वहाँ देश को विघटन की ओर ले जाने वाली कुछ अन्य शक्तियाँ भी नये सिरे से उभर रही हैं और वे अपने आपको कांग्रेस का विकल्प सिद्ध करना चाहती हैं। इन विघटनकारी शक्तियों में हम उन लोगों का नाम ले सकते हैं जो सदा अपने मजहब को राष्ट्र से ऊपर मानते आये हैं। यह देश का दुर्भाग्य है कि धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले देश में धर्म के नाम पर

राजनैतिक पार्टियाँ बनें और वे चुनाव में हिस्सा लें। स्वयं नेहरू जी के समय देश के राजनेता इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि सम्प्रदाय विशेष के नाम से निर्मित दलों को राजनैतिक मान्यता प्राप्त न हो। परन्तु स्वयं साम्प्रदायिक लोगों के वोटों के आधार पर जीतने वाले राजनैतिक नेता उस दिशा में कामयाब नहीं हो सके।

यह माना जा सकता है कि देश की आजादी से पहले क्योंकि भारत का संविधान नहीं बना था, इसलिए उसमें धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त पर जोर देने की बात भी नहीं थी। पर जब से भारतीय संविधान का निर्माण हुआ और उसमें धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, उसके बाद से किसी भी साम्प्रदायिक पार्टी को राजनैतिक चुनाव लड़ने की छूट देना संविधान का सरासर उल्लंघन है। अब भी अगर संविधान के इस विशिष्ट पहलू पर जोर दिया जाये तो भारत सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि किसी भी सम्प्रदाय के नाम पर निर्मित पार्टी को राजनैतिक मान्यता न दे।

साम्प्रदायिक दल कौन से हैं, जिनको राजनैतिक मान्यता प्राप्त है। उनके नारों का उल्लेख किए बिना हम केवल यह कहना चाहते हैं कि जिस किसी महजब के मानने वाले लोग अपने सम्प्रदाय या अपने मजहब को आगे रखते हैं और राष्ट्र को पीछे, वे साम्प्रदायिक हैं। राष्ट्रवाद की मुख्य परिभाषा यही है कि जो अपने सम्प्रदाय को राष्ट्र से बड़ा न माने, बल्कि राष्ट्र को सब सम्प्रदायों से बड़ा माने, वही राष्ट्रवादी है। यदि किन्हीं साम्प्रदायिक दलों को राजनीतिक मान्यता देनी भी हो तो उनके लिए शर्त रखी जानी चाहिए कि जब तक अमुक सम्प्रदाय के नाम पर निर्मित उस दल में उससे भिन्न सम्प्रदाय के सदस्यों की संख्या ५०% नहीं होगी, तब तक उसे राजनैतिक मान्यता नहीं दी जायेगी। चुनाव आयोग को भी इस दिशा में सक्रिय होना चाहिए और स्वयं उसको भी भारत सरकार को सुझाव देना चाहिए कि किसी साम्प्रदा-

यिक दल को राजनीतिक दल के रूप में मान्यता प्राप्त न हो। इतना करने मात्र से ही देश की वर्तमान राजनैतिक समस्याओं का बहुत कुछ समाधान होता नजर आएगा।

परन्तु लगता है कि भारत सरकार अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति की अभ्यस्त होने के कारण इस प्रकार का कठोर कदम उठाने की बात नहीं सोच सकती। इसी बात से आश्वस्त होकर अनेक अल्पसंख्यक साम्प्रदायिक दलों ने नये सिरे से सिर उठाना शुरू किया है। वे भारत सरकार की कमजोरी जानते हैं। उदाहरण के लिए, शाही इमाम जिस प्रकार विभिन्न दलों से तालमेल करके किसी न किसी प्रकार अपने ४० के लगभग उम्मीदवार संसद में पहुँचाना चाहते हैं, उसका समाचार आपने पढ़ा है। साथ ही हाजी मस्तान और करीम लाले जैसे तस्कर-सम्राट भी अपनी अलग पार्टी बनाकर चुनावों के रणक्षेत्र में कूदना चाहते हैं। इसके अलावा विदेशों से मिलने वाले धन का भी आगामी चुनाव में काफी बड़ा रोल होने की संभावना है। भारत सरकार ने इसीलिए विदेशों से आने वाले धन पर कुछ अंकुश लगाया है, परन्तु उसे इसमें कितनी कामयाबी मिलेगी, यह कहना मुश्किल है।

दिल्ली में हुए अखिल भारतीय मुस्लिम छात्र संघ ने अभी से नारा लगाना शुरू कर दिया है कि भारत को इस्लामी राज्य बनाया जाय। किस मनोवृत्ति से बड़े पैमाने पर भारत के गरीब हरिजनों का धर्मान्तरण करने की योजना बनाई गई थी, इसका आभास मीनाक्षीपुरम् काण्ड में मिल चुका है। यह उसी मनोवृत्ति का नया और भयंकर विस्फोट है। इसमें विदेशों की कितनी शह है, यह कहना मुश्किल है। उधर खालिस्तान के पक्षपाती भी अभी तक सर्वथा शान्त नहीं हुए हैं। इसलिए देश के राष्ट्रवादियों के चेतने का अवसर आ गया है। आश्चर्य की बात है कि भारत राष्ट्र का सबसे बड़ा घटक— जिसकी संख्या ८५ प्रतिशत से अधिक है, वह विशाल हिन्दू समाज, अभी सोया पड़ा है और उसमें राजनैतिक चेतना का सर्वथा अभाव है। राष्ट्र के इस सबसे बड़े घटक के जागने का अवसर अब आ गया है।

[४ नवम्बर, १९८४ ई०]

हिम्मत है तो चुनौती का जवाब दो

इन्दिरा गांधी की हत्या ने सारे देश को ही नहीं; बल्कि सारे संसार की एक बात सोचने के लिए बाध्य कर दिया है। उस बात की तरफ ब्रिटेन की प्रधानमंत्री श्रीमती मार्गरेट थैचर ने कुछ संकेत किया है, पर वे कहाँ तक उसका निदान कर पायेंगी, यह कहना कठिन है। श्रीमती थैचर भी शायद उस बात का संकेत इसलिए कर सकीं, क्योंकि श्रीमती इन्दिरा गान्धी की हत्या से कुछ ही दिन पूर्व एक होटल पर बम फेंक कर उनकी हत्या का भी प्रयत्न किया गया था। इस युग-मानवी की निर्मम हत्या के तुरन्त बाद राष्ट्र जैसे जड़ीभूत हो गया था और तात्कालिक गुस्से का गरम लावा अचानक देश की शिराओं में बह उठा था। अब वह कुछ ठण्डा पड़ा है और ११ नवम्बर को इन्दिरा गान्धी की अस्थियों के हिमालय के शिखरों पर विसर्जन के साथ राष्ट्रीय शोक दिवस समाप्त हो जाने के बाद अब उस बात पर विचार करना बहुत आवश्यक हो गया है। वह बात क्या है ?

प्राय: सभी समीक्षकों ने इन्दिरा गान्धी की हत्या की तुलना महात्मा गांधी की हत्या से की है। जहाँ तक गोली मारकर हत्या करने का प्रश्न है, वहाँ तक तो यह समानता ठीक है, और महात्मा गान्धी तथा इन्दिरा गान्धी की हत्या अपने आदर्शों पर अडिग रहने के कारण हुई, यह बात भी सही है। परन्तु विश्वासघात की जो पराकाष्ठा इस हत्या में उजागर हुई है, वह अभूतपूर्व है, अदृष्टपूर्व है और इतिहास में अश्रुतपूर्व है।

इस विश्वासघात को, जब तक मानवीय चेतना सजग है तब तक कभी क्षम्य नहीं समझा जा सकता है। इसी अक्षम्य कोटि में वे लोग

भी आते हैं जिन्होंने इन्दिरा गांधी जैसी महती महीयसी महिला की इस विश्वासघातपूर्ण हत्या पर—जिसे राष्ट्रपति ने सही शब्दों में 'मानवता के प्रति अपराध' कहा है—खुशियाँ मनाई थीं। आश्चर्य की बात यह है कि जनता के आकस्मिक उबाल पर तो चारों तरफ से निन्दा प्रस्ताव मुखरित हो उठे, परन्तु हत्या पर खुशी मनाने वालों के विरोध में कुछ उसी ढंग की चुप्पी साध ली गई जिस ढंग की चुप्पी भिंडरावाले और उसके द्वारा तैनात मरजीवड़ों के द्वारा की गई हत्याओं पर साध ली गई थी। इसी अक्षम्य कोटि में हम उन ग्रन्थियों को भी गिनते हैं जिन्होंने संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र की महान् नेता की हत्या पर न केवल शोक प्रकट करने से इन्कार कर दिया, बल्कि अखबारों में प्रकाशित अपने उस ढंग के बयान का भी खण्डन कर दिया। सच बात तो यह है कि देश में जो हिंसा का नग्न तांडव हुआ, वह बेशक गलत था, और नहीं होना चाहिए था, परन्तु उसको भड़काने में सबसे बड़ी जिम्मेवारी उन ग्रन्थियों की और उन पथ-भ्रांत सिख बन्धुओं की है जिन्होंने ऐसी निर्मम हत्या पर भी मिठाई बाँट कर और दिवाली मना कर अपनी हृदयहीनता का परिचय दिया।

साम्प्रदायिकता का विष कितना घातक हो सकता है, उसका एक नमूना सन् सैंतालीस में देश विभाजन से पूर्व और उसके तुरन्त बाद हम देख चुके हैं। उस साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर महात्मा गांधी का बलिदान हो गया और इसी साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर इन्दिरा जैसी साहसी, निर्भीक और अदम्य पौरुष वाली महिला भी बलि चढ़े बिना नहीं रह सकी। पाठक भूले नहीं होंगे कि महात्मा गांधी की हत्या के बाद सारे महाराष्ट्र में ब्राह्मण-विरोधी लहर चल पड़ी थी। ब्राह्मणों के घर और सम्पत्ति फूंक दी गई थी, क्योंकि महात्मा गांधी की हत्या करने वाला नाथू राम गोडसे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण था। महात्मा जी के बलिदान के पश्चात् स्वयं सरदार पटेल ने—जो उस समय गृहमंत्री

थे— राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी संस्था पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, क्योंकि नाथूराम गोडसे का अपने यौवन के आरंभिक दिनों में कभी संघ से कुछ सम्बन्ध रहा था। हालांकि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राजनैतिक पार्टी नहीं थी (और उसके समर्थन से बनने वाली राजनीतिक पार्टी—जन संघ—का तब तक जन्म नहीं हुआ था) परन्तु गांधी हत्या से उत्पन्न जनाक्रोश और सरकारी कोप का दुष्परिणाम संघ को भोगना पड़ा।

अब क्या देश में साम्प्रदायिकता का विष समाप्त हो गया है ? क्या देश के राजनेताओं में इतनी हिम्मत है कि वे इस साम्प्रदायिकता के विष को समाप्त करने के लिए कोई कड़े कदम उठा सकें ? अगर इंदिरा गांधी की निर्मम हत्या के पश्चात् भी देश की जनता में हिम्मत नहीं आई, तो शायद भविष्य में कभी नहीं आयेगी। सारे देश के निवासियों की समझदारी को और भविष्य को सुरक्षित रखने की आकांक्षा को यह चुनौती है। अगर इस चुनौती का हमने सही ढंग से जवाब नहीं दिया तो देश का भविष्य सदा अंधकारमय बना रहेगा। क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों के लिए हम देश के भविष्य से कब तक खिलवाड़ करते रहेंगे ?

हम जानते हैं कि राजनीतिक नेताओं के सामने भी कई मर्यादाएँ होती हैं। उनके सामने सबसे बड़ी जिम्मेवारी देश के सभी वर्गों में तालमेल की होती है। पर हम क्षणिक शांति के प्रलोभन में दूरगामी शांति की सदा उपेक्षा करते आये हैं। यही हमारी राजनीति की सबसे बड़ी विडम्बना है। हम समझते हैं कि संसार भर की मानवता को दहला देने वाली इंदिरा गांधी की इस हत्या ने हमारी आँख में अंगुली डालकर उस भयंकर विषधर सर्प की तरफ इशारा कर दिया है और बता दिया है कि यदि इसका फण नहीं कुचलोगे तो यह अपने जहरीले डंक से समस्त राष्ट्र के शरीर में अपने प्राणघातक विष का संचार कर

देगा। अब समय आ गया है जब साम्प्रदायिकता के इस सांप को कुचलने के लिये हम सब तरह से संनद्ध हो जायें। अब इस साम्प्रदायिकता के साथ उग्रवाद भी मिल गया है। श्रीमती थैचर ने राजनीति में दिन-प्रतिदिन बढ़ते इसी उग्रवाद के खतरे की ओर संकेत किया था।

स्वतंत्र भारत के संविधान में जहाँ प्रजातंत्र व समाजवाद को स्थान दिया गया है, वहाँ सम्प्रदाय-निरपेक्षता को उसका बुनियादी सिद्धान्त रखा गया है। जब तक अंग्रेज थे, तब तक न हमारा संविधान था और न ही उसमें सम्प्रदाय-निरपेक्षता का यह नियामक सिद्धान्त था। इसलिए आजादी से पहले अंग्रेजों की "फूट डालो और राज करो" की नीति के कारण जाने-अनजाने जो गलतियाँ हमसे हो गईं, स्वतंत्र भारत में उनको दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम दोहराते आये हैं। यही देश का दुर्भाग्य है। सम्प्रदाय-निरपेक्ष राष्ट्र में किसी भी सम्प्रदाय-विशेष के नाम पर आधारित दल को राजनैतिक मान्यता नहीं देनी चाहिए, यह कौमनसेंस की बात है। पर जैसे कि कहावत है—'कामनसेंस इज दि मोस्ट अनकामन थिंग इन दिस वर्ल्ड'—वह हम पर पूरी उतरती है। हमने मुस्लिम लीग और अकाली पार्टी जैसी साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनैतिक मान्यता दी, उनको चुनाव लड़ने का अवसर दिया और देश में साम्प्रदायिकता की विषवेल राष्ट्र के वटवृक्ष के स्कन्ध के ऊपर जा चढ़ी। गलती तो हमारी ही थी। यदि अब भी हम इस गलती को नहीं सुधारेंगे तो कब ?

देश के जन-जन से और देश के प्रधानमंत्री से लेकर प्रत्येक राजनेता से हम कहना चाहते हैं कि देश के संविधान में से सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त को निकाल दो और उसके बाद भले ही तुम मुस्लिम लीग और अकाली पार्टी जैसी साम्प्रदायिक पार्टी को मान्यता दो। किन्तु जब तक संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकृत है तब

तक किसी को भी सम्प्रदाय-विशेष के नाम से निर्मित किसी पार्टी को राजनीतिक मान्यता देने का अधिकार नहीं है।

अब तक ऐसा होता आया है --यह कहना सर्वथा निरर्थक है। हम देश के जनगण का आह्वान करते हैं। इन्दिरा गाँधी जैसी लोकप्रिय नेता की निर्मम हत्या ने यह स्वर्ण अवसर दिया है कि मुस्लिम लीग और अकाली दल की राजनीतिक मान्यता समाप्त की जाय। हमें विश्वास है कि हमारी आवाज बहरे कानों पर नहीं पड़ेगी। इन्दिरा जी की निर्मम हत्या के बाद यही चुनौती देश के सामने है, जिसका जबाब देने की हिम्मत उसे जुटानी है।

[नवम्बर १८, १९८४ ई०]

महाकुंभ और समुद्रमंथन

आम चुनावों का उपमा प्रायः महाकुम्भ से दी जाती है। जैसे कुम्भ पर लाखों लोग उमड़ पड़ते हैं, वैसे ही चुनावों में लाखों नहीं, करोड़ों लोग शामिल होते हैं। इसलिए यह कुम्भ का भी महाकुम्भ है। फिर कुम्भ हर बारह साल बाद आता है, पर यह चुनावों का महाकुम्भ ५ साल बाद ही आ जाता है। इस दृष्टि से भी यह कुम्भ से बढ़कर महाकुम्भ है।

पर वास्तव में इसे समुद्र मंथन कहना चाहिए। जैसे देवों और दानवों ने मिल कर, पौराणिक कथा के अनुसार, समुद्र का मंथन किया था, वैसे ही यहाँ विभिन्न राजनीतिक दल मिल कर इस भारत रूपी महासागर का मंथन करते हैं। हिन्द का यह महासागर ही तो असली 'हिन्द महासागर' है जिसके आलोडन-विलोडन में समस्त जन लगते हैं।

एक पौराणिक कथा देवों और दानवों द्वारा समुद्रमंथन की बात करती है, यहाँ हम 'समस्त जन' की बात कर रहे हैं। तो क्या वे देव और दानव भी ये भारत के ही समस्त जन हैं ?

जब पहले कभी तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की चर्चा आती थी, तो प्रगतिशील लोग कहा करते थे कि ये तैंतीस करोड़ देव और कोई नहीं, भारत के ही नागरिक हैं। यह उस समय की बात है जब भारत की जनसंख्या तैंतीस करोड़ थी। राष्ट्रमनीषी और बन्देमातरम् के अमर गायक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने उस अमर गीत में लिखा था —
त्रिंश कोटि कण्ठे कलकल निनाद-कराले द्विंत्रिंश भुजैर्धृत खर करवाले
तब भारत की जनसंख्या केवल तीस करोड़ ही थी, इसलिए उन्होंने तीस

करोड़ कण्ठों के कलकल निनाद की और साठ करोड़ खड्गधारिणी भुजाओं की बात कही थी। पर स्वतन्त्रापूर्व के उस युग में, सम्भवतः बंकिम के जीवन-काल में या उसके आस-पास ही, भारत की जनसंख्या तैंतीस करोड़ तक पहुँच गई थी। इसलिए भारत के नागरिकों को तैंतीस करोड़ देवता की संज्ञा-देना कुछ न कुछ जम ही जाता था।

पर हमारा यह देव-निर्मित देश प्रजनन-प्रक्रिया में इतना माहिर है कि हर साल भारत में एक नया आस्ट्रेलिया पैदा हो जाता है। आस्ट्रेलिया की कुल आबादी ५० लाख है और भारत इतनी आबादी तो केवल ३६५ दिन में बढ़ाकर खड़ी कर देता है। प्रजनन-शीलता पौरुष की निशानी है। यह भारतवासियों के पौरुष का ही परिणाम है कि अब इसकी आबादी ७० करोड़ के आँकड़े को छू रही है और सांख्यिकीविद कहते हैं कि १९वीं सदी के समाप्त होते-होते भारतीयों का पौरुष एक अरब की संख्या को पार कर जाएगा।

जनसंख्या की इस बढ़ती भयावहता की चिन्ता परिवार नियोजन के अलम्बरदार करें। हमारा मुद्दा यहाँ दूसरा है। मुद्दा यहाँ यह है कि जब भारत की आबादी तैंतीस करोड़ थी, तब इसे तैंतीस करोड़ देवताओं का देश कहा गया। अब जब आबादी ७० करोड़ तक पहुँच रही है, तो भारत को ७० करोड़ देवताओं का देश क्यों न कहा जाए ?

इस तर्क में कोई अतर्कसंगत बात नहीं है। कठिनाई केवल एक है। यदि सब देवता ही देवता हैं, तो समुद्र मंथन कैसे होगा ? क्योंकि जब तक शेषनाग वासुकि के रस्से को दूसरी ओर से पकड़ने वाले दानवों की टीम नहीं होगी, तब तक मन्थन या 'टग आफ वार' कैसे होगा ? अब दानव कहाँ से आएँगे ? क्योंकि भारत तो सत्तर करोड़ देवताओं का देश हो गया। देवताओं के देश में दानव कहाँ ? **लंका निशचर निकर निवासा। यहाँ कहाँ सज्जन कर वासा।** दानवों को 'इम्पोर्ट' करना पड़ेगा ?

इतना चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं ? हालांकि यह देश' 'आयातित सामान' का बहुत लोभी है, और कुछ लोग तो अपनी शक्ल सूरत को छोड़कर अपने घर में सब सामान, सामान ही क्यों, चाल-ढाल रहन-सहन-भाषा-सभ्यता-संस्कृति—सब 'इम्पोर्टेड' होने पर अत्यन्त गर्व अनुभव करते हैं। पर हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि दानवों को विदेशों से इम्पोर्ट करने के लिए आपको किसी लायसेंस या परमिट के लिए भागदौड़ करने की जरूरत नहीं है। अपने पड़ोस में ही आपको दानव मिल जाएँगे।

दानवों की कोई अलग नस्ल नहीं होती। न उनके सिर पर सींग होते हैं। देवता और दानव एक ही वंश के, एक ही नस्ल के, एक ही परिवार के और सगे भाई भी हो सकते हैं। उनकी शक्ल-सूरत में और बाकी किसी चीज में कोई अन्तर नहीं होगा। केवल उनके चिन्तन की शैली में अन्तर होता है। इसी विचार-भेद के कारण देवता ही दानव बन सकते हैं और दानव भी देवता बन सकते हैं।

संस्कृत में कहावत है—**साक्षरा विपरीतताँ गता राक्षसा भवन्ति**—साक्षर ही जब विपरीत आचरण करने लगे तो वह राक्षस (साक्षर= राक्षस) बन जाता है। यह बात भाषा-विज्ञान की दृष्टि से केवल 'हिंस' को 'सिंह' बनाने वाली वर्णव्यत्यय की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह व्यवहार-व्यत्यय की भी प्रक्रिया है।

देवता लोग दानव कब बन जाते हैं ? राष्ट्रीय सन्दर्भ में हमारा कहना है कि जो राष्ट्रवादी नागरिक हैं वे सब देव हैं और जो अराष्ट्र-वादी नागरिक हैं, वे सब दानव हैं। वही चिन्तन की शैली वाली बात है।

अब राष्ट्रवादी कौन है और अराष्ट्रवादी कौन है—यह प्रश्न है।

इस प्रश्न का उत्तर हमारी दृष्टि में अत्यन्त सरल है। जो भी

व्यक्ति अपने सम्प्रदाय को (जिसे आजकल गलती से धर्म, मजहब या रिलीजन शब्द से सम्बोधित किया जाने लगा है) राष्ट्र से ऊपर मानता है, वह सम्प्रदायवादी और अराष्ट्रीय है और जो अपने राष्ट्र को अपने सम्प्रदाय से ऊपर मानता है, वह राष्ट्रीय है। जितने सेमेटिक मजहब या उन्हीं की तरह सोचने वाले, उन्हीं के पदचिन्हों पर चलने वाले लोग हैं, वे साम्प्रदायिक हैं, अराष्ट्रीय हैं, वे ही दानव कहे जाने योग्य हैं। और जो भारत को सब मतों और सम्प्रदायों से ऊपर मानते हैं, वे असम्प्रदायवादी हैं, सही मामलों में 'सेक्युलर' हैं, राष्ट्रवादी हैं और देव कहे जाने योग्य हैं।

आधुनिक भारत के इन सत्तर करोड़ नागरिकों में कितने दानव हैं, कितने देव, इस समय इस बहस में हम नहीं पड़ेंगे। हमने तो एक विभाजन रेखा बता दी है। उस रेखा के हिसाब से आप स्वयं देव-दानव का फैसला कीजिए और अपने कर्तव्य को पहचानिये और फिर चुनावों के इस समुद्र-मंथन के लिए तैयार हो जाइए।

[२५, अक्तूबर १९८४ ई०]

विष या अमृत

लोकसभा के चुनावों के सम्बन्ध में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के रहते विपक्षी दलों के मन में जो द्विविधा थी, वह रंगमंच से उनके हट जाने के बाद समाप्त हो गई है। पहले पक्ष और विपक्ष में सारी राजनीति केवल इन्दिरा गाँधी को लेकर चलती थी। पक्ष वाले जिस जोर से इन्दिरा गाँधी की जय बोलते थे, और प्रधान मंत्री के रूप में उनकी सद्भावना प्राप्त करने के लिये सब कुछ करने को तैयार रहते थे, उतने ही जोर से विपक्ष वाले अपने सब हरबे-हथियार संभाले उन सबका निशाना इन्दिरा गाँधी की ओर ही साधते थे। विपक्षीदलों का एकमात्र उद्देश्य जैसे इन्दिरा गाँधी का केवल विरोध करना ही रह गया था। इसीलिए राष्ट्रपति प्रणाली की स्वस्थ चर्चा के पीछे भी कुछ और उद्देश्य ढूँढे गये और यह अफवाह भी फैलाई गई कि इन्दिरा गाँधी बार-बार विदेशी खतरे की चर्चा करके किसी न किसी प्रकार चुनाव टालने का बहाना ढूँढ़ रही हैं।

वैसे चुनावों की घोषणा सन् १९८५ के जनवरी के प्रथम सप्ताह में अपेक्षित थी। परन्तु अब इन्दिरा गाँधी के न रहने पर चुनावों की घोषणा और १५ दिन पहले कर दिये जाने से विपक्षी दल तो हतप्रभ हो ही गये, पक्ष वाले भी चौंक गये। निश्चय ही भूतपूर्व प्रधानमंत्री की निर्मम हत्या से उत्पन्न जनभावना का लाभ उठाने के लिए ही चुनावों की घोषणा करने में विलम्ब नहीं किया गया। इसके औचित्य पर शंका करना व्यर्थ है। इतने बड़े हादसे ने जन-जन के मन को जैसे झकझोर के रख दिया है। अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि जब इन्दिरा गाँधी विदेशी खतरे की बात करती थीं तब उनकी वह महज

खामखयाली नहीं थी। वह एक सच्चाई थी, जिसकी कीमत इन्दिरा गाँधी को अपनी जान देकर चुकानी पड़ी। यह भी स्पष्ट है कि धीरे-धीरे जनता में इस हत्या से उत्पन्न आक्रोश की भावना कम होती जायेगी और सम्भव है कि मतदान के समय तक फिर राजनीतिक दलों में वैसे ही उठापटक और आपसी तू-तू मैं-मैं प्रारम्भ हो जाये।

गत सप्ताह हमने इन चुनावों को समुद्रमंथन की संज्ञा दी है। समुद्र के मंथन से जहाँ चौदह रत्न निकलते हैं, वहाँ अमृत का कुम्भ भी निकलता है। और उसके साथ ही हलाहल विष का निकलना भी अवश्यंभावी है। समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत को पाने के लिए देव-दानव संघर्ष होता है पर हलाहल विष को ग्रहण करने को कोई तैयार नहीं होता। उस विषकी भयंकर ज्वाला जब दिग्दिगंत को जलाने लगती है तब देव भी दूर भागते हैं और दानव भी दूर भागते हैं। उस हलाहल विष को पीने के लिए तब विषपायी नीलकंठ देवाधिदेव महादेव की खोज शुरू होती है। आखिर शिवजी ही विषपान करके सृष्टि को सुरक्षित करते हैं।

हमें ऐसा लगता है, कि विषपान का वह कार्य समुद्रमन्थन से पूर्व ही इन्दिरा गाँधी कर गईं। समुद्रमन्थन से जिस भयंकर विष की आशंका थी, और जिसके कारण देव-दानव दोनों भिड़ सकते थे, उस विष को दुर्गा भवानी के रूप में प्रसिद्ध वह शिवशंकरी ही स्वेच्छा से पान करके परलोक सिधार गई। इसलिए अब पक्ष और प्रतिपक्ष को विष की आशंका मन से निकालकर चुनावों के समुद्रमन्थन से अमृत निकालने की तैयारी करनी चाहिए।

हो सकता है, पाठक इसे हमारी खुशफहमी समझें। पर हम अपने मन में राष्ट्र के सुन्दर भविष्य के प्रति सदा आशान्वित रहे हैं। इसी आशावाद को हम राष्ट्रवाद का प्राण मानते हैं, और अपने राष्ट्र के किसी भी अनिष्ट की भविष्य में भी कल्पना करने से कतराते हैं। जब-

तक इतिहास हमारी इस भावना को अन्यथा सिद्ध नहीं कर देता, तब तक हम इस भावना को बदलने को तैयार नहीं। हमेशा राष्ट्र के सुन्दर भविष्य की कल्पना करो और उस सुन्दर भविष्य को लाने के मार्ग में वर्तमान में जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उनके दूर करने का प्रयत्न करो—यही हमारा राष्ट्रवाद है।

इन आसन्न चुनावों को लक्ष्य करके पार्टियों में जोड़-तोड़ प्रारम्भ हो गई है। उम्मीदवारों के नामों की घोषणा हो रही है और यह अंक पाठकों के हाथ में पहुँचने तक कहाँ-कहाँ से किस-किस दल के कौन-कौन से उम्मीदार खड़े हुए हैं, यह स्थिति पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी। इन चुनावों को लक्ष्य करके हाल में ही हिन्दुस्तान हिन्दू मंच और आर्य-सभा की स्थापना भी हुई है। ये दोनों दल परस्पर सहयोग से काम करेंगे, यह तो हमको विश्वास है ही। साथ ही समस्त हिन्दुत्ववादी राष्ट्रभक्त शक्तियों को वे एकत्र कर सकेंगे, यह भी हमें आशा है।

हम तो यहाँ एक ही बात कहना चाहते हैं। उसी बात को हम पहले भी बार-बार दोहराते रहे हैं। वह बात यह है कि जब तक भारतीय संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकृत है तब तक इस देश में किसी भी सम्प्रदाय-विशेष के नाम पर आधारित राजनैतिक पार्टी को मान्यता देना गैरकानूनी है। साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनैतिक मान्यता मिल जाने से ही देश में वह साम्प्रदायिकता का हलाहल विष फैला जिसकी शिकार इन्दिरा गाँधी हुईं और स्वयं उनको यह हलाहल पीना पड़ा। अगर चुनावों के इस समुद्र-मंथन में से अमृत निकालना है तो साम्प्रदायिक पार्टियों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है, अन्यथा इन्दिरा गाँधी का यह अमर-बलिदान भी सर्वथा निरर्थक हो जायेगा।

जब हम सम्प्रदाय-निरपेक्षता का समर्थन करते हुए साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध की माँग करते हैं और साथ ही हिन्दुत्ववादी शक्तियों

के एकत्रीकरण की बात करते हैं, तब बहुत से पाठकों को हमारी बात में विरोधाभास प्रतीत हो सकता है। परन्तु विरोधाभास है नहीं। वह केवल समझ का फेर है। हम हिन्दू को न कोई सम्प्रदाय मानते हैं, न कोई मजहब। हम हिन्दू को धर्म के बजाय राष्ट्र का वाचक और पर्यायवाची मानते हैं। हिन्दू का सीधा अर्थ है—हिन्द का रहने वाला। भारत का प्रत्येक नागरिक अपने आपको हिन्दू कह सकता है, और उसे कहना चाहिए। परन्तु केवल एक ही शर्त है कि वह अपने सम्प्रदाय को राष्ट्र से ऊपर मानने की सैमेटिक मजहबों से उत्पन्न साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को तिलांजलि दे दे। जब तक कोई व्यक्ति अपने तथाकथित धर्म को राष्ट्र से ऊपर मानता रहेगा, तब तक वह कभी सही अर्थों में राष्ट्रभक्त हो ही नहीं सकता। उसके दिमाग में हमेशा साम्प्रदायिकता का भूत सवार रहेगा।

हम तो बहुत मोटी परिभाषा करते हैं कि जिसने हिन्द को अपने धर्म, मजहब, सम्प्रदाय, या पन्थ से ऊपर मान लिया वह राष्ट्रभक्त हो गया और वह हिन्दू कहलाने का अधिकारी है। उन राष्ट्र-भक्त हिन्दुओं में भी जो प्रखर राष्ट्रवादी हैं, हम उन प्रबुद्ध और श्रेष्ठ जनों को आर्य कहते हैं। हमारी आर्य और हिन्दू की यही परिभाषा है। हो सकता है, कुछ लोग हमारी इन परिभाषाओं से सहमत न हों, और वे तरह-तरह से मीनमेख निकालकर अपनी मानसिक तंगदिली को किसी भी तरह उजागर करने में अपनी बहादुरी समझते हों। परन्तु हमें विश्वास है कि जिन्होंने अपने देश के और संस्कृति के इतिहास को सही अर्थों में हृदयंगम किया है, वे हमारी बात का समर्थन करेंगे।

यों भी यदि अन्य धर्मावलम्बी अपने आपको हिन्दू न कहना चाहें तो भी, इस देश का ८५ प्रतिशत विशाल बहुमत अपने आपको हिन्दू कहता ही है। वही तो इस देश का मेरुदण्ड है। इसकी उपेक्षा करने से राष्ट्र ही कहाँ रहेगा? इसलिए हम बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि इस देश की राष्ट्रवादी और हिन्दुत्ववादी शक्तियों को एकत्र करो और चुनावों के समुद्रमन्थन में से अमृत निकालने की तैयारी करो।

[दिसम्बर २, १९८४ ई०]

चुनावी रथयात्रा

चुनाव का रथ जनपथ पर चल पड़ा है। जिस तरह जगन्नाथ के रथ को लाखों व्यक्ति खींचते हैं उसी तरह इस चुनावी रथ को खींचने वालो की संख्या लाखों में नहीं, करोड़ों में होगी। देश की आबादी इस समय ७० करोड़ के आस-पास है। इन सबका हाथ इस चुनावी रथ में कहाँ तक लग पायेगा, यह कहना कठिन है। किन्तु करोड़ों हाथ इसे खींचने में अपना सहयोग देंगे तभी यह रथ अपनी मंजिल तक पहुँच पायेगा। रथ यात्रा में जितनी अधिक भीड़ होती है उतना ही गर्दोगुबार उड़ता है। फिर जब करोड़ों की पदचाप से उठती हुई धूल से आसमान में एक नया बादल-सा बन जाय, तब भी किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हालाँकि अभी रथयात्रा शुरू हुई है, परन्तु हमको विश्वास है कि ज्यों-ज्यों रथ आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों धूल का अम्बार उठने की आशंका निर्मूल भले ही न हो, परन्तु उससे वह खतरा नहीं होगा जिसकी कुछ विघ्नतोषी लोग आशा लगाए बैठे हैं। यों कुछ चुनाव क्षेत्रों में, जहाँ जबर्दस्त उम्मीदवारों की टक्कर है, वहाँ उपद्रवों की आशंका से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु सभी उम्मीदवार ऐसी दुर्मति से बच सकें, यह हमारी कामना है।

नये प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने जोरदार ढंग से अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया है। जिस तरह श्रीमती गाँधी के चुनाव भाषणों में बेतहाशा भीड़ टूटती थी उसी प्रकार नये प्रधानमंत्री के दर्शनार्थियों की संख्या भी कम नहीं होती। श्री राजीव गाँधी ने अपनी सभाओं में जनता को बार-बार यह आश्वासन दिया है कि हम देश की विघटन-कारी शक्तियों को कभी सफल नहीं होने देंगे। स्पष्ट रूप से उनका सीधा इशारा खालिस्तान या द्रविड़िस्तान की माँग की तरफ है। उन्होंने

यह भी स्पष्ट घोषणा की है कि हम किसी भी हालत में आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेंगे। देश की अखण्डता को कायम रखना—यही तो चुनाव का सबसे बड़ा मुद्दा है। इसी चुनाव का क्यों, सभी चुनावों का यही मुख्य मुद्दा होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी कुछ और अवान्तर नारे बीच में चल पड़ते हैं और यह मुख्य मुद्दा एक तरफ रह जाता है। परन्तु इस बार के चुनाव में इस मुद्दे से बचने का कोई रास्ता नहीं है।

विपक्ष के पास इस बार कहने को कोई मुद्दा नहीं है इसलिए वे कांग्रेसी शासन के पुराने बखिये उधेड़ने में लगे हैं। जब राजीव गांधी यह कहते हैं कि अकालियों को या अन्य विघटनकारी शक्तियों को विपक्षी दलों ने सहयोग दिया, तब विपक्षवाले बौखलाकर कहते हैं कि 'राजीव जी ! आपका घर भी कांच का बना हुआ है इसलिए औरों के घरों पर इस तरह पत्थर मत फेंको'। यह नेक सलाह नेकनीयती भी हो सकती है। पर इसकी जिम्मेदारी राजीव गाँधी के सिर नहीं आती क्योंकि उन्हें तो शासन सूत्र संभाले जुम्मा-जुम्मा चार दिन हुए हैं।

परन्तु हम जिस बात की ओर ध्यान खींचना चाहते हैं वह यह है कि देश में लोकतंत्र, समाजवाद और सम्प्रदाय-निरपेक्षता को कायम रखना है तो चाहे कांग्रेस हो या अन्य विपक्षी दल, उन सबको इस देश के विशाल बहुमत हिन्दू समाज के हितों को प्रमुखता देनी होगी। यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि जिस दिन इस देश में हिन्दुओं का बहुमत समाप्त हो जायेगा उस दिन न यहाँ लोकतंत्र रहेगा, न समाजवाद और न सम्प्रदाय-निरपेक्षता। जितने अन्य मतावलम्बी हैं, उनकी भारतीय संविधान के इन नियामक सिद्धांतों पर कोई आस्था नहीं है। पड़ोसी देश इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

हिन्दू समाज अपने आप में कितना ही विश्रृंखलित और असंगठित क्यों न हो, पर संविधान की उक्त तीनों चीजें उसकी स्वाभाविक

विरासत के अंग हैं। शायद वे चाहें तब भी इतिहास से प्राप्त अपनी इस परम्परागत विरासत को वे छोड़ नहीं पायेंगे। जिस सहिष्णुता की और मत-मात्र के प्रति अनाग्रह को हिन्दू समाज की सबसे बड़ी कमजोरी माना जाता है, वही उसका सबसे बड़ा बल है। और इस प्रवृत्ति ने संसार की इस सबसे पुरानी जाति को इतना चिरजीवन प्रदान किया है। अगर हिन्दू समाज की यह दुर्बलता ही उसका सबसे बड़ा बल न होती तो गैर-हिन्दुत्ववाद के इस सर्वग्राही रवैया से इतना न डरते। 'इस्लाम खतरे में' या 'पंथ खतरे में' का अर्थ यही तो है न कि यदि उन्होंने अलग पहचान की जिद पूरी नहीं की तो एक दिन यह हिन्दू समाज का महाकाय अजगर चुपचाप उनको निगलकर पचा जायेगा। यही काल्पनिक भय है जिससे सब अल्पसंख्यक त्रस्त हैं और इसी भय के आधार पर ये देश में अपनी साम्प्रदायिक राजनीति चलाते हैं।

भारत का हिन्दू अपने आप में कितनी बड़ी ताकत है, इसका बोध किसी को नहीं। कुछ वैसी सी बात है जैसी सीता की खोज में गई समुद्र के किनारे बैठी बानरों की टोली में हनुमान के साथ थी। जाम्बवान् से लेकर अंगद और अन्य सब बानर-प्रमुख यह जानते थे कि चार सौ योजन समुद्र को पार करने की शक्ति केवल आजन्म ब्रह्मचारी हनुमान में है। परन्तु वे स्वयं भी अपनी शक्ति को भूले हुए थे। यदि भारत का ८५ प्रतिशत जनसंख्या वाला विराट् हिन्दू-समाज एकजुट हो जाए, तो एक ही रात में इतनी बड़ी ताकत बन कर उभर सकता है कि संसार में सब उसे देखकर चौंक जायें। यही गनीमत है कि हिन्दू-समाज में आज तक कभी इस आत्मचेतना ने जन्म नहीं लिया।

इस बार माहौल कुछ-कुछ बदला है। हिन्दू समाज में भी कुछ-कुछ आत्म-चेतना के लक्षण नजर आने लगे हैं। ऊपर से नीचे तक शरीर के प्रत्येक अंग को और पोर-पोर को सुन्न कर देने वाली श्रीमती गाँधी की

निर्मम हत्या ने भी इस आत्म-चेतना में काफी योग दिया है। हिन्दू-समाज समझने लगा है कि अब भी हम नहीं चेते तो देश का कोई नेता और कोई विशिष्ट व्यक्ति सुरक्षित नहीं रह सकता। आखिर भिंडरा-वाले के मरजीवड़ों ने सभी दलों के राजनैतिक नेताओं, सब प्रमुख पत्रकारों, समस्त विशिष्ट बुद्धिजीवियों और स्वतंत्रचेता साहित्यकारों को मारने की धमकी दे ही रखी थी। उनकी 'हिटलिस्ट' में जहाँ इन्दिरा, राजीव, जैल सिंह शामिल थे, वहाँ चरणसिंह और अटल-बिहारी वाजपेयी भी इस 'सौभाग्य' से वंचित नहीं थे। जिस रास्ते ला० जगत नारायण और बन्धुवर रमेश चन्द्र को परलोक पठाया गया, उसी पथ का पथिक बनाने के लिए कितने ही आर्यसमाजी पत्रकारों और आर्य नेताओं को भी धमकियाँ दी गई थीं। अकेले दिल्ली में ही कम से कम एक हजार अतिरिक्त पुलिसमैन भर्ती करके उन्हें हिटलिस्ट में नामांकित नेताओं की रक्षा के लिए तैनात किया गया था। यह किसी विशिष्ट राजनीतिक दल का प्रश्न नहीं था, बल्कि आतंकवाद का खुला खेल था।

इस समय पंजाब की अतीत की घटनाओं को लेकर वहाँ के हिन्दुओं में एकजुट होकर किसी हिन्दुत्ववादी पार्टी के पक्ष में वोट देने का संकल्प जागृत हुआ है। भारत के अन्य राज्यों में भी उसी प्रकार के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। पंजाब में तो फिलहाल यह चुनावी रथ नहीं जा रहा, परन्तु हम समझते हैं कि हिन्दुत्ववादी यह भावना वहाँ आसानी से खत्म होने वाली नहीं है। केरल में काफी समय से इस प्रकार की लहर चल रही है। आन्ध्र प्रदेश में भी नतारा रामाराव ने संन्यासी के वेष में जनता में जो भावना जागृत की है वह हिन्दुत्ववादी मतदाताओं को ही सबसे अधिक प्रभावित करने वाली है। श्री रामाराव ने तिरुपति के मन्दिर को वेटिकन सिटी का दर्जा देने की बात भी कही है। अब तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस ने भी साफ-साफ शब्दों में कह दिया है कि समस्त हिन्दुओं को चाहिए

कि वे पार्टी से ऊपर उठकर उन उम्मीदवारों को वोट दें जो भले ही किसी पार्टी के हों, लेकिन हिन्दू हितों को सबसे प्रमुखता देने वाले हों। दिल्ली के रामलीला मैदान में बड़ी संख्या में धर्माचार्यों ने एकत्र होकर इस भावना को और बल दिया है।

देखना यह है कि यह हिन्दूवादी लहर इस चुनावी रथ को क्या मोड़ देती है ?

[दिसम्बर ९, १९८४ ई०]

वोट किसको दें ?

ज्यों-ज्यों चुनावों में मतदान का समय निकट आता जा रहा है, त्यों-त्यों जनता के मन में, खासतौर से आर्य जनता के मन में, यह प्रश्न घुमड़ रहा होगा कि इस बार के इस महाचुनाव में वोट किस पार्टी को दिया जावे। चुनावों के अनुकूल यद्यपि अभी तक आम जनता में जोश-खरोश दिखाई नहीं देता, परन्तु मतदान का समय निकट अपने तक वातावरण के काफी गर्म होने की संभावना है। निर्णय की वह घड़ी आने से पूर्व देश में कुछ ऐसी घटनाएँ भी घट रही हैं जिसका संकेत शुभ नहीं है।

भोपाल में यूनियन कार्बाइड कारपोपेशन के अन्तर्गत चलने वाले कीटनाशक दवाओं के कारखाने में जहरीली गैसे के रिसने से जिस बड़े पैमाने पर लोग मारे गये, उसने सारे देश को चौंका दिया है। भोपाल जैसे प्रेतों की भूमि बन गया। कफन कम पड़ गये और दफनाने के लिए धरती माता की गोद भी छोटी पड़ गई। श्मशान में लकड़ी नहीं बची। कभी जर्मनी के हिटलर ने इसी प्रकार प्राणघातक गैस द्वारा घुटा घुटाकर हजारों बेगुनाहों यहूदियों की जान ले ली थी। वैसी ही प्राणघातक गैस ने यहाँ भी प्रलय मचा दी। सरकारी आंकड़ों के हिसाब से अभी तक अढ़ाई हजार लोग मारे गये और भोपाल के ऊपर से अभी तक मौत का साया टला नहीं है। इस भयंकर दुर्घटना की जाँच का भार सी० बी० आई० को सौंप दिया गया है। परन्तु सरकार को हर हालत में अब तो यह सोचना ही पड़ेगा कि अपने औद्योगीकरण के उत्साह में वह देश में ऐसे जहरीली गैसों के कारखाने भविष्य में कहीं भी बस्ती के अन्दर न बनने दे। वैसे तो कीटनाशक दवाओं के अत्यधिक प्रयोग के बुरे परिणाम भी संसार के सामने आ चुके हैं। इसलिए पश्चिम से प्रेरणा पाकर हमारी सरकार ने कृत्रिम साधनों से आधुनिक खेती को बढ़ावा

देने का जो सरंजाम किया है, उसकी उपयोगिता पर भी पुनर्विचार होना चाहिए।

हालांकि भोपाल की इस दुर्घटना का चुनावों से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर घटनाओं को भविष्य के शुभ-अशुभ का संकेत मानने वाले मनों को इसमें कुछ अशुभ दिखाई दे तो आश्चर्य नहीं।

पर हम इसके अलावा भी कुछ अशुभ संकेतों का उल्लेख करना चाहते हैं। भारतीय जनता पार्टी के सर्वमान्य नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी पर गुजरात के मेहसाणा नामक स्थान पर जो हमला हुआ, वह चुनावों से पूर्व किसी अच्छी मनोवृत्ति का द्योतक नहीं है। कुछ लोग इसमें राजनीतिक दलों की प्रतिद्वंद्विता देखते हैं। आरोप-प्रत्यारोप भी शुरू हो गये हैं। चौ० चरण सिंह के चुनाव क्षेत्र मेरठ-बागपत में, हेमवतीनन्दन बहुगुणा के चुनाव क्षेत्र इलाहाबाद में तथा श्री राजीव गाँधी के चुनाव क्षेत्र अमेठी में भी इस प्रकार की हिंसाओं की आशंका लोगों को होने लगी है। यह सचमुच ही शुभ संकेत नहीं है। अगर इस प्रकार की हिंसा का विस्तार हो गया तो संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करने वाले इस देश में लोकतंत्र ही उपहास का पात्र बन जायेगा। अगर लोकतंत्र में भी हिंसा होती है तो तानाशाही और उसमें अन्तर ही क्या रह गया ?

दूसरी तरफ साम्प्रदायिक पार्टियाँ नये सिरे से अपना फन फैलाने की कोशिश कर रही हैं। केरल की इण्डियन मुस्लिम लीग ने, जो राज्य की कांग्रेसी सरकार को टिकाये रखने का मुख्य साधन बनी हुई है, अपनी इस स्थिति का लाभ उठाते हुए सरकार से कई मांगें मनवा ली हैं। केरल में मुल्लाओं को पेंशन देने के लिए राज्य सरकार ने वक्फ बोर्ड को १५ लाख रुपया दे दिया है। त्रिवेन्द्रम के साम्प्रदायिक दंगों के शिकार मुस्लिम परिवारों के लिए लीग ने १.५३ लाख रुपया स्वीकार करवा लिया है और सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के लिए आरक्षित कोटे की जांच के लिए एक विशेष सरकारी अधिकारी नियुक्त कर दिया

गया है। वर्तमान में यहाँ सरकारी सेवाओं में मुसलमानों का प्रतिशत ६ से अधिक है पर वे १२ प्रतिशत नौकरियाँ आरक्षित करवाना चाहते हैं।

इसी प्रकार ऐतिहासिक जामा मस्जिद के शाही इमाम शेख अब्दुला बुखारी ने हिन्दुस्तान के समस्त मुसलमानों के नाम एक फरमान जारी किया है जिसमें "जालिम और वादा-खिलाफ इंका को हर सूरत में हटाने" की अपील की गई है। ये वही शाही इमाम हैं जिन्होंने सन् १९८० में इंका को जिताने के लिए फरमान जारी किया था। अब वे इंका से नाराज हैं। पिछले दिनों कश्मीर के अपदस्थ मुख्यमंत्री डॉ० फारुख अब्दुल्ला से वे बातचीत कर चुके हैं और लीबिया की यात्रा करके मुस्लिम उम्मीदवारों को जिताने के नाम पर वहाँ से काफी पैसा बटोर लाये हैं। इस्लाम के नाम पर लीबिया किस हद तक जाने को तैयार है, यह संसार जानता है। इस्लामी बैंक की शाखा के लिए और इस्लामी परमाणु बम के निर्माण के लिए जितनी बेताबी कर्नल गद्दाफी ने दिखाई उतनी और किसी मुस्लिम देश ने नहीं। पिछले दिनों मिस्र के राष्ट्रपति ने यह भी आरोप लगाया था कि श्रीमती इन्दिरा की हत्या के षड्यन्त्र में भी कर्नल गद्दाफी ने सहायता की थी।

अकाली पार्टी भी ग्रन्थियों की मार्फत सिखों के लिए फरमान जारी करवाने की बात सोच रही है जिसमें सब सिखों से अपील की जाय कि वे किसी भी हालत में इंका को वोट न दें और इंका को हरवाने के लिए जो भी कुछ कर सकते हों, करें। हम बारम्बार मुस्लिम लीग और अकाली दल जैसी साम्प्रदायिक पार्टियों पर प्रतिबन्ध लगाने की बात कहते रहे हैं। पिछले दिनों चौ० चरण सिंह ने भी, जिन्होंने दलित मजदूर किसान पार्टी के नाम से नई पार्टी बनाई है और समस्त विपक्षी दलों को मिलाकर कांग्रेस-इ का एक सशक्त विकल्प तैयार करने की योजना के अन्तर्गत अपना चुनाव अभियान प्रारम्भ किया है, साम्प्रदायिक पार्टियों पर प्रतिबन्ध की आवश्यकता बताई है। परन्तु आश्चर्य है कि

साम्प्रदायिकता के उन्मूलन के लिए जिस अकाली पार्टी पर वे प्रतिबन्ध का समर्थन करते हैं, इंका के विरोध में उसी पार्टी का समर्थन चाहते हैं।

इस समय ऐसा लगता है कि अल्पसंख्यकों के इंका के विरोध में बरगलाने के लिए कोई व्यापक षड्यंत्र चला रहा है और गैर-कांग्रेसी शासन की स्थापना का स्वप्न लिया जा रहा है। अगर इंका को पूर्ण बहुमत नहीं मिलता, तो दो ही विकल्प बचते हैं कि या तो इंका के साथ अन्य दलों के सहयोग से एक मिलीजुली सरकार केन्द्र में स्थापित हो या फिर इंका सत्ता से हाथ खींचकर गैर-कांग्रेसी दलों के हाथ में देश का भविष्य जाने दे। ये दोनों ही परीक्षण खतरनाक हैं। जिस तरह मिली-जुली सरकार चलने की संभावना नहीं है, उसी तरह गैर-कांग्रेसी दलों की सरकार चलने की संभावना नहीं है। क्योंकि इनमें से कोई भी गैर-कांग्रेसी दल अखिल-भारतीय स्तर की पार्टी होने का दावा नहीं कर सकता। फिर गैर-कांग्रेसी का जो अर्थ उत्तर भारत में होता है, वह दक्षिण भारत में नहीं होता। दक्षिण भारत में तेलगू देशम और द्रविड मुन्नेत्र कड़गम् जैसी प्रादेशिक पार्टियाँ अपने-अपने राज्यों में हावी हैं जबकि उत्तर भारत में भाजपा या दमकिपा का जोर है। यदि गैर-कांग्रेसी दलों की सरकार केन्द्र में बनी तो वह निश्चित रूप से प्रादेशिक दलों और साम्प्रदायिक पार्टियों की दया पर ही जीवित रह सकती है।

हम हमेशा देश के विशाल बहुमत और हिन्दू समाज के हितों की रक्षा की बात कहते आये हैं। अब भी वही बात कहते हैं। इंका की नीतियों से कई बातों में हमारा मतभेद भी है। परन्तु इस समय ऐसा लगता है इंका को पूर्ण बहुमत न मिला तो देश का भविष्य अन्धकारमय होने की संभावना है। इसलिए हमारा कहना तो यह है कि जहाँ कोई हिन्दू हितों का रक्षक उम्मीदवार हो वहाँ उसे वोट दीजिए और जहाँ कोई प्रतिबद्ध प्रत्याशी आपको न मिले, वहाँ कम बुराई के रूप में इंका के प्रत्याशी का समर्थन कीजिए। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

[१६ दिसम्बर, १९८४ ई०]

अमर हुतात्मा का स्मरण

इस बार अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान दिवस बड़े महत्वपूर्ण अवसर पर आया है। सारा देश चुनावों की जोड़-तोड़ में लगा है और अगले एक-दो दिन में ही मतदान के द्वारा उसका परिणाम देश के सामने आने वाला है। इस बार के चुनावों की विशेषता यह है कि सब राजनैतिक विश्लेषण-कर्ताओं की दृष्टि में मतदाताओं को आकर्षित करने वाला कोई खास मुद्दा या नारा नहीं है जिसके पीछे आकृष्ट होकर आम जनता स्वप्नाविष्ट की तरह किसी एक दिशा की लहर में बह जाय। यह एक लिहाज से अच्छा ही है क्योंकि नारे बहुत बार बुद्धिभ्रम पैदा कर देते हैं। इस बार वैसा कोई नारा न होने के कारण शायद जनता स्वस्थ और शान्त चित्त से मतदान कर सके।

विपक्षी दलों के पास तो जैसे कुछ कहने को रह ही नहीं गया। उनके पास सबसे बड़ा हथियार यदि कोई था तो वह केवल एक ही था—इन्दिरा गान्धी का विरोध कैसे किया जाय। अब श्रीमती गान्धी इस धराधाम पर नहीं रही तो सत्ता पक्ष को जो हानि हुई सो हुई ही, पर विपक्ष तो विरोध का एकमात्र लक्ष्य समाप्त हो जाने पर जैसे बिना कुछ किए कराये स्वयं ही धराशायी हो गया। उसके तर्कस में जितने तीर थे सब व्यर्थ हो गये। इसलिए श्रीमती गान्धी के न रहने से एक तरह से सबसे अधिक हानि विपक्षों की ही हुई। अब वे विरोध किसका करें।

यह ठीक है कि नये प्रधानमंत्री श्री राजीव गान्धी, इन्दिरा की तरह न तो अखाड़े के दावपेचों में कुशल हैं और शायद राजनीति में बहुत विलम्ब से आने के कारण वे इस क्षेत्र की उलझनों को और

उसके समीकरणों को भी उतना न समझ पाते हों जितना श्रीमती गांधी समझती थीं। इसलिए अगर नये प्रधानमंत्री को अपनी परामर्श-दाता चौकड़ी के अनुसार चलना पड़ता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मां के गर्भ से कोई व्यक्ति ज्ञानवान बनकर नहीं निकलता। वह धीरे-धीरे गुरुओं से, मित्रों से और दुनिया के थपेड़ों से बहुत कुछ सीखता है। परन्तु सारे संसार को जिस एक बात ने चकित कर दिया, वह यह है कि जब विश्व राजनीति के कुशल अध्येता यह आशा लगाए बैठे थे कि अब भारत में लोकतंत्र समाप्त हो जायेगा या सैनिक क्रान्ति हो जायेगी, उन सबको बहुत बुरी तरह निराश होना पड़ा है। बिना विशेष उखाड़-पछाड़ के श्रीमती गांधी के पश्चात् राजीव गाँधी इस प्रकार प्रधानमंत्री बन जायेंगे और उसके पश्चात् लोकतंत्र के नाते उसकी पुष्टि के लिए लिए तुरत-फुरत आम चुनावों की घोषणा कर देंगे, यह भी उनको एक-दम निराश करने वाली बात थी।

बल्कि श्रीमती गान्धी की हत्या के पश्चात् अब जो तथ्य सामने आ रहे हैं उनसे यह भी ध्वनि निकलती है कि हत्या के षड्यंत्रकारियों को लगता था कि श्रीमती गान्धी जीवित रहीं तो अगला प्रधानमंत्री राजीव गान्धी को ही बनाकर छोड़ेंगी इसलिए उनकी हत्या कर देने से वह अंदेशा समाप्त हो जायेगा। पर बात उल्टी पड़ गई। जितनी आसानी से राजीव गान्धी बिना विरोध के और बिना आपसी सिर-फुटौवल के अब प्रधानमंत्री बन गए, श्रीमती गांधी के रहते उतनी आसानी से पता नहीं बन पाते या न बन पाते। लोकतंत्र की जड़ में पलीता लगाने वालों को यहाँ भी मुँह की खानी पड़ी।

अब श्री राजीव गांधी क्या सहानुभूति वोट के माध्यम से ही भावी प्रधान मंत्री बने रहेंगे ? नहीं, इतनी ही बात नहीं है। उनके सामने भी कोई नया मुद्दा नहीं है। इन्दिरा जैसा चमत्कारी और अनुभव-सम्पन्न तथा राजनीति और कूटनीति में में दक्ष व्यक्तित्व भी नहीं है। इसी-

लिए इन्दिरा के न रहने पर भी अभी तक नाम कांग्रेस-आई ही चल रहा है। शायद यही नाम आगे भी चलता रहे। पर श्री राजीव गांधी ने बहुत सोच-समझकर एक मुद्दा उठाया है। हम समझते हैं कि इस बार का चुनाव इसी मुद्दे का फैसला करेगा। वह मुद्दा है आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव।

उस प्रस्ताव को स्पष्ट रूप से मानने से इन्कार करके इन्दिरा गांधी ने षड़यंत्रकारियों के हाथों अपनी बलि दे दी और अब सब विपक्षी दल यह सफाई देने में लगे हैं कि हमने आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव का कभी समर्थन नहीं किया। यह बात नीम सही है। क्योंकि पंजाब में भिंडरावाले के मरजीवड़ों द्वारा हत्याकाण्ड के चलते विपक्षी दलों ने जो रवैया अपनाया था, वह बहुत शुभ नहीं था। वे पंजाब की समस्या को देश की समस्या के बजाय श्रीमती गांधी की समस्या समझते थे। और समस्या जितनी उलझती जाती थी उतना ही मन ही मन प्रसन्न होते थे कि अब देखते हैं कि श्रीमती गान्धी इसको कैसे सुलझायेंगी। हम अभी तक भूले नहीं हैं जब विपक्षी दलों के ही नेताओं ने चण्डीगढ़ में हुई अपनी सम्मिलित कांफ्रेंस से लौटकर बिना सोचे समझे यह बयान दिया था कि चण्डीगढ़ पंजाब को देने की एकतरफा घोषणा श्रीमती गान्धी को तुरन्त कर देनी चाहिए। उन्होंने अबोहर-फाजिल्का का जिक्र तक नहीं किया। अब जिस तरह अकाली दल के नेता कहते हैं कि आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव भारतीय संविधान के अन्तर्गत है और उसमें कोई गलत बात नहीं है, प्रायः वैसा ही रुख विपक्षी दलों का भी रहा है। इसे उसकी नीम रजामन्दी न कहा जाय तो क्या वे उसे राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग के साथ जोड़ते रहे हैं? पर वे यह भूल जाते हैं कि यदि केवल इतनी बात होती तो जब अकाली दल पंजाब में सत्ता में था तब उसने यह सवाल क्यों नहीं उठाया। या तमिलनाडु की द्रविड़ मुन्नेत्र कड़घम और बंगाल की वामपंथी सरकार

ने, जो स्वयं अपने-अपने राज्यों में अधिक स्वायत्तता माँगने की गरज से ही अस्तित्व में आई थीं, आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव पर कभी विचार तक करना गवारा क्यों नहीं किया ? क्योंकि वे जानते थे कि यह मामला कुछ और है।

सच बात तो यह है कि इस बार का चुनाव कितना ही मुद्दों से हीन क्यों न हो, पर श्री राजीव गान्धी ने आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव को ही ऐसा मुद्दा बना दिया है कि सारे देश को जैसे इसी के पक्ष और विपक्ष में मतदान करना है। अगर इंका को पूर्ण बहुमत मिलता है, जिसकी आशा है, तो यह निश्चित रूप से सारे देश का आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव के विरोध में वोट होगा। फिर इस चुनाव के बाद आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव की चर्चा किसी भी स्तर पर सर्वथा समाप्त कर दी जानी चाहिए। अगर इंका को पूर्ण बहुमत नहीं मिलता, तो किसी न किसी रूप में आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव भी बिना सिर उठाए नहीं रहेगा और वह देश के भविष्य के लिए बहुत खतरनाक साबित होगा।

हम इसी दृष्टि से इसबार के चुनाव को बहुत महत्वपूर्ण कह रहे है। आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव के रूप में देश के विघटन का जो बीज बोया जा रहा था, उसके साथ उन अन्य विघटनवादी दैत्यों को भी नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता जो इस समय ताल ठोंक कर मैदान में अड़े हैं। इनमें शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और उन्हीं के संगी साथी, भिंडरावाले के साथ मिलकर खालिस्तान की योजना को क्रियान्वित करने में सहायता करने वाले, कश्मीर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री फारुख अब्दुल्ला भी शामिल हैं। ये दोनों अब्दुल्ला तो केवल प्रतीक हैं। असल में तो जिस तरह खालिस्तान के समर्थकों को विदेशों से शह प्राप्त थी उसी तरह इस्लाम के वर्चस्व का पुनः स्वप्न देखने वाले इन मुस्लिम नेताओं को भी विदेशों से ही शह मिली हुई है। जिस लीबिया

के इन्दिरा गान्धी की हत्या के षड़यंत्र में शामिल होने की बात मिस्र के राष्ट्रपति ने कही है, उसी लीबिया से शाही इमाम भारत के इन आम चुनावों में मुस्लिम उम्मीदवारों को जिताने के लिए आर्थिक सहायता लेकर आये थे। इस समय भारत में दो मुस्लिम लीग काम कर रही हैं और अन्य अनेक मुस्लिम संस्थाएँ जनतंत्र की ओट में अपना उल्लू सीधा करने में लगी हुई हैं। अकेले उत्तर प्रदेश में ही ५० मुस्लिम उम्मीदवार खड़े हैं। ऐसे समय उस अमर हुतात्मा का स्मरण ही राष्ट्र की एकता के लिए प्रतिबद्ध आर्य जनों को सही प्रेरणा दे सकता है।

महात्मा गांधी, स्वामी श्रद्धानन्द और श्रीमती गांधी—इन तीनों की हत्या उस साम्प्रदायिक विष का परिणाम थी जिसे ये विघटनकारी दैत्य राष्ट्र की नसों में प्रविष्ट करना चाहते हैं। उस विष से राष्ट्र को बचना ही उस अमर हुतात्मा के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

[२३ दिसम्बर, १९८४ ई०]